दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2499 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 28 अंक नं० 6

चैतन्यदीप प्रज्वलित करो!

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

आत्मा में चैतन्य-दीपक प्रज्वलित हो और भगवान महावीर जिस मार्ग से निर्वाण पधारे, उस मार्ग पर यह आत्मा भी प्रयाण करे, वही सच्चा निर्वाण-महोत्सव है, वही सच्ची दीपावली है। वर्तमान में स्वामीजी के प्रताप से वह मार्ग हमें प्राप्त हुआ है। महावीर परमात्मा समान अपना परमात्मतत्त्व अपनी चेतना-परिणति में विराजमान है और वह चेतना अनंत आनंदमय दीपकों से जगमगा रही है।

अहा, आनंदमय सम्यक्त्व-प्रकाश से शोभायमान चैतन्य-प्रभात ही सच्चा सुखमय सुप्रभात है। ऐसे सुप्रभाती संतों को हम नमस्कार करते हैं, उनका मंगल-आशीर्वाद लेकर 'सवाये आत्मलाभ' की भावना भाते हैं।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

नवम्बर : 1972] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (330) एक अंक 35 पैसा [आश्विन : 2499

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्वसाहूणं।

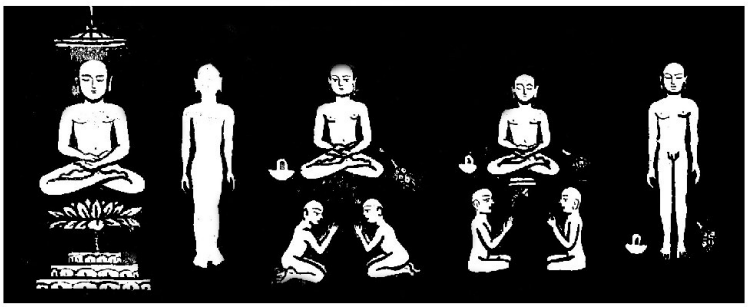

पंचपरमेष्ठी भगवंत!

आपको नमस्कार करते हुए अपार आनंद होता है... आपके परिवार में आये, वही आपको सच्चा नमस्कार कर सकता है। आपको नमस्कार करके प्रभु! हम आपके परिवार में आ गये... आपके मार्ग में आ गये... संसार की संगति से छूटकर हम आपकी पवित्र पंक्ति में आये हैं।

धन्य आपका मार्ग! जो आपके मार्ग में आया, वह संसार के अन्य किसी मार्ग के प्रति कभी आकर्षित नहीं होता; जिसने आपको नमन किया, वह जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं नमता। अहा, धन्य हमारा जीवन कि हमें पंचपरमेष्ठी का परिवार प्राप्त हुआ। प्रभो! आपकी मंगल-छाया में हमारे 'आत्मधर्म' का विकास हो, हमें रत्नत्रय की प्राप्ति हो... और वह वृद्धिंगत होकर केवलज्ञान तक पहुँचे... यही मंगल प्रार्थना है।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

नवम्बर : 1972 ☆ आश्विन : वीर नि० सं० 2499, वर्ष 28 वाँ ☆ अंक : 6

चलो, महावीर के मार्ग पर....

पिछले दिनों हमने दीपावली पर्व आनंद से मनाया... दीपावली अर्थात् वीरप्रभु के मोक्ष का महोत्सव। एक वर्ष बाद भगवान के निर्वाण को 2500वाँ वर्ष प्रारंभ होगा और देशभर में वह वर्ष हम सब आनंद से मनायेंगे।

अहा, महान भाग्य से हम सबने वीरप्रभु के जैनशासन में जन्म लिया है। जैनशासन प्राप्त करके हमें अपना जीवन उच्च से उच्च बनाना है। उच्च जीवन का मूल आधार सच्चा तत्त्वज्ञान है। भगवान के द्वारा कहा हुआ तत्त्वज्ञान हम सबको जानना चाहिये, उसे जानकर मोक्ष के मार्ग पर चलना चाहिये और ऐसे तत्त्वज्ञान का प्रचार घर-घर करना चाहिये—तभी भगवान महावीर का निर्वाण-महोत्सव मनाने की सार्थकता है।

एक वर्ष बाद ऐसा महान उत्सव मनाने के लिये हमें अभी से तैयारी करना चाहिये। बालकों-युवकों-बुजुर्गों! जागृत हो! हमें एक-दूसरे के सहयोगपूर्वक ऐसा उत्तम कार्य करना है कि अपना जैनशासन सुशोभित हो उठे... और हम आनंद से महावीरप्रभु के मार्ग पर चलें!...

[इस संबंध में एक व्यवस्थित योजना—जिसमें छोटे-बड़े सब उत्साहपूर्वक भाग ले सकें—प्रस्तुत करने का विचार है। आप हमें अपने विचार और सुझाव लिख भेजें।—सम्पादक]

मेरा लक्षण : ज्ञानचेतना

जो आत्मा ज्ञानी हुआ, उसका लक्षण क्या? वह ज्ञानी किस चिह्न से पहिचाना जाता है? यह समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं—जड़कर्म या शरीरादि तो बिलकुल भिन्न हैं, उस ओर का भाव, अर्थात् कर्मचेतना या कर्मफलचेतना, उन दोनों से भिन्न ज्ञानस्वभाव का संचेतन करनेवाली-अनुभव करनेवाली जो 'ज्ञान-चेतना', वही ज्ञानी का लक्षण है। ज्ञानचेतना को पहिचानते ही ज्ञानी की यथार्थरूप में पहिचान होती है। ऐसी पहिचान करनेवाले जीव को अपने में भी ज्ञानचेतना प्रगट होती है। जिसे ज्ञानचेतना प्रगट हुई, उसने अनंत ज्ञानियों को पहिचानकर उनकी अभेदभक्ति की। ज्ञानी की ऐसी ज्ञानचेतना का अद्भुत आनंदकारी वर्णन आप स्वामीजी के इस प्रवचन में पढ़ेंगे।

[श्री समयसार, गाथा-75]

* धर्मी जानता है कि मेरा लक्षण ज्ञानचेतना है, ज्ञानचेतना में अज्ञानमय रागादिभावों का या कर्मों का कर्तापना किंचित् नहीं है, अत्यंत भिन्नता है।
* चेतनारहित रागादिभावों की तन्मयता मेरी चेतना के साथ कैसे होगी? इसलिये रागादिभाव—कि जिनमें चेतनपना नहीं है, उन्हें मेरी चेतना के साथ व्याप्य-व्यापकपना नहीं है, इसलिये वह मेरी चेतना का कार्य नहीं है।
* कर्मचेतना या कर्मफलचेतना दोनों से रहित ज्ञानचेतना है, उस ज्ञानचेतना के साथ मेरे आत्मा का तन्मय परिणमन है—इसप्रकार धर्मी अपने को ज्ञानचेतनारूप अनुभव करता है।
* यहाँ दो भाग करके धर्मी का चिह्न समझाया है; एक तो ज्ञानी के लक्षण में जो समाता है वह भाग, और दूसरा ज्ञानी के लक्षण से जो बाहर रहता है, वह मार्ग।

- ज्ञानी के लक्षण में जो समाता है, वह 'चेतनभाव' है।
- ज्ञानी के लक्षण में जो नहीं समाता, वह 'अचेतनभाव' है।

— राग हो या कर्म हो—उन सबमें अचेतनरूप से एकता है, उन्हें किसी को चेतनलक्षण के साथ एकता या कर्ताकर्मपना नहीं है।

* जो आत्मा ज्ञानचेतनारूप परिणमित होता है, वह ज्ञानी है। वह ज्ञानी राग को जानता है, तब उस राग को ज्ञान के कार्यरूप नहीं जानता, परंतु उसे ज्ञान से अत्यंत भिन्नरूप जानता है। वहाँ राग से भिन्न ऐसा जो ज्ञान है, उस ज्ञान को ही अपने कार्यरूप करता हुआ धर्मी जीव ज्ञान के ही कर्तारूप अपने आत्मा को जानता है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसका कार्य (उसके रहने का स्थान, व्याप्य) तो ज्ञानमय होता है, रागमय नहीं होता।

'ज्ञानमय' कार्य कहते ही उसमें ज्ञान के साथ रहनेवाले आनंद आदि अनंत गुणों का निर्मलभाव आ जाता है, परंतु ज्ञान से विरुद्ध ऐसे रागादि कोई भाव नहीं आते, इसलिये उन्हें अचेतन कहा है। ज्ञानचेतना में जिसका समावेश हो, वह चेतन है और ज्ञानचेतना में जिसका समावेश न हो, वह सब अचेतन है; वहाँ ज्ञानी ज्ञानचेतनारूप होकर उसे करता है, और ज्ञानचेतना से बाहर ऐसे रागादि अचेतन भावों को धर्मी जीव अपने कार्यरूप नहीं करता।—ऐसा जो राग से भिन्न ज्ञानचेतनारूप परिणमन है, वह ज्ञानी का चिह्न है। इस चिह्न से जो ज्ञानी को पहिचानते हैं, उन्हें ज्ञान और राग का भेदज्ञान अवश्य हो जाता है।

ज्ञान और राग दोनों की जाति भिन्न है, उनकी एकमेकता (व्याप्य-व्यापकता) कैसे होगी? धर्मी को ज्ञानचेतना का जो वेदन है, उसमें राग का वेदन किंचित्मात्र नहीं है। वाह, भेदज्ञान द्वारा दो भाग कर दिये हैं; एक ओर ज्ञानचेतनारूप परिणमित जीवद्रव्य, दूसरी ओर अचेतनरूप पुद्गलद्रव्य। वहाँ राग-द्वेष-क्रोधादि जो भाव ज्ञानचेतना में नहीं समाते, उन सब भावों को अचेतन मानकर पुद्गलद्रव्य में डाल दिया है। रागादि कोई भाव—जिनसे तीर्थंकरादि कर्मप्रकृति का बंध होता है, वह भाव और वह तीर्थंकरप्रकृति भी ज्ञानचेतना के साथ तन्मय नहीं है, इसलिये वह ज्ञानी का कार्य नहीं है, वह ज्ञान से भिन्न होने से अचेतन है, उसका समावेश पुद्गल में होता है। इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा दो भाग करके ज्ञान और राग को भिन्न जाने, तभी

ज्ञानचेतनारूप हुए ज्ञानी को यथार्थरूप से जाना जा सकता है। ज्ञानी के ज्ञान में राग का कर्तापना क्यों नहीं और उस राग को 'अचेतन' क्यों कहा—यह बात भेदज्ञान द्वारा ही समझ में आ सकती है। ज्ञान और राग की एकत्वबुद्धि में वह बात समझ में नहीं आती।—अहा, यह बात तो सम्यक्त्वी ही ग्रहण कर सकता है, मान सकता है और अनुभव कर सकता है, अज्ञानी का सामर्थ्य नहीं कि यह बात ग्रहण करके अंतर में उतार सके। धर्मी अपने को अंतर में 'परम आनंद का नाथ' मानता है। ज्ञानपरिणति-आनंदपरिणति-श्रद्धापरिणति उन सर्व आत्मपरिणामों में आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से व्याप्त होकर उसका कर्ता होता है, स्वयं ही स्वाधीन स्वतंत्ररूप से उनरूप होता है। रागादिभावरूप परिणमित नहीं होता, उनमें तन्मय नहीं होता। धर्मी तो राग से भिन्न स्वसंवेदन ज्ञानरूप होकर मति-श्रुतज्ञान में केवलज्ञान को बुलाता है... ज्ञान में वह राग या विकल्प को नहीं बुलाता, परंतु केवलज्ञान जिसमें भरा हुआ है, ऐसे अखंड ज्ञानस्वभाव को अपने मति-श्रुतज्ञान द्वारा अनुभवता हुआ केवलज्ञान को बुलाता है।—ऐसी ज्ञानदशा द्वारा ही ज्ञानी पहिचाना जाता है। ज्ञानी के अंतर की गंभीर चेतना को ज्ञानी ही जानता है; ऊपरी दृष्टि से देखनेवाले ज्ञानी का सामर्थ्य नहीं कि वह ज्ञानी की अंतरचेतना को पहिचान सके।

व्याप्य-व्यापकतारूप एकता तो तत्स्वरूप में ही होती है, एक जाति के भाव में ही व्याप्य-व्यापकपना होता है, परंतु अतत्स्वरूप में भिन्न-भिन्न जाति के भावों में एकतारूप व्याप्य-व्यापकभाव नहीं होता। ज्ञान और राग को तत्स्वरूपपना अर्थात् एकपना नहीं है परंतु अतत्पना अर्थात् भिन्नपना है, इसलिये ज्ञान में राग नहीं रहता और राग में ज्ञान नहीं रहता, दोनों में अत्यंत भिन्नपना है; इसलिये उन्हें कर्ता-कर्मपना नहीं है। ऐसे परभावों से भिन्न ज्ञानरूप अपने को अनुभव करनेवाला जीव ज्ञानी है। राग के कर्तृत्व से रहित ऐसा ज्ञानी ज्ञानचेतना को ही अपने कार्यरूप करता हुआ शोभायमान होता है। ज्ञान ही जिसका कार्य है, ऐसे अपने आत्मा को वह जानता है।

शुद्धस्वभाव में जिसकी दृष्टि तन्मय हुई है, उसे अपने में राग का अस्तित्व ही कहाँ है? इसलिये उसे रागादि का कर्तृत्व नहीं रहता। जो रागादि या कर्म-नोकर्म हैं, वे सब ज्ञान से बाह्य ज्ञेयरूप हैं, परंतु ज्ञानी के कार्यरूप नहीं हैं। ज्ञानी का कार्य तो ज्ञानमय ही है।

अज्ञानी को जो रागादिभाव होते हैं, उनमें तथा कर्म-नोकर्म में एकत्वबुद्धि है, इसलिये

अज्ञानी का वह अज्ञानभाव ही निश्चय से रागादि का कर्ता है, तथा वह कर्म-नोकर्म का भी निमित्तकर्ता होता है। राग से भिन्न चेतनस्वरूप आत्मा का कोई अस्तित्व अज्ञानी को दिखायी नहीं देता। यदि चेतनस्वरूप भगवान आत्मा को दृष्टि में ले, तब तो वह पर्याय राग से भिन्न होकर उसकी अकर्ता हो जाये।

ऐसे एकत्वस्वभाव की ज्ञानचेतनारूप और रागादि के अकर्तारूप जो परिणमित हुआ है, ऐसे ज्ञानी के चिह्न की यह बात है। अहा, मैं तो परम शांत चेतनतत्त्व, मुझमें हर्ष-शोक का वेदन कैसा? या राग-द्वेष का कर्तापना मुझमें कैसा? ज्ञानचेतनारूप हुआ मैं; उसमें कोई कर्मचेतना या कर्मफलचेतना नहीं है। चेतना में वे नहीं हैं, इसलिये उन्हें पुद्गलमय कहा है। भले ही वे अरूपी विकारी परिणाम हैं, परंतु उनका समावेश धर्मी की ज्ञानचेतना में नहीं होता, इसलिये उन्हें अचेतन-पुद्गलमय कह दिया है, वे अचेतन होने से पुद्गल की ही जाति के हैं, चेतन की जाति के नहीं हैं।

अहा, देखो तो यह धर्मी का भेदज्ञान! अपने चेतनभाव के अतिरिक्त अन्य सबमें से उसकी सुखबुद्धि उड़ गई है। अब उसकी चेतना अपने स्वभाव-सन्मुख होकर अपने ज्ञान, सुख, श्रद्धा आदि निर्मल भावों को ही करती है और अपने उस निर्मल कार्य में ही धर्मी जीव कर्तारूप तन्मय होकर व्याप्त होता है, परंतु चेतन से भिन्न ऐसे किन्हीं भी रागादि भावों को वह अपने साथ तन्मयरूप नहीं जानता, उनका कर्ता नहीं होता, उनमें व्याप्त नहीं होता।—ऐसा जो ज्ञान और राग का अत्यंत भिन्न परिणमन है, वह ज्ञानी का लक्षण है।

ज्ञानी का लक्षण अर्थात् ज्ञानी को पहिचानने का चिह्न, वह तो ज्ञानमय ही होगा न! ज्ञानी का लक्षण कहीं रागमय नहीं होता। क्योंकि ज्ञान और राग को एक-दूसरे में व्यापक-व्याप्यपना नहीं है, दोनों में विलक्षणपना है। ज्ञान शुचिरूप है और राग अशुचि है, ज्ञान तो आत्मा के चेतनस्वभाव से अविपरीत वर्तता हुआ स्व-पर को जाननेवाला है, और रागादि भाव तो आत्मा के चेतनस्वभाव से विपरीत वर्तते हुए स्व-पर को नहीं जानते, वे स्वयं अपने को नहीं जानते, परंतु उनसे अन्य (अर्थात् ज्ञानस्वभावी जीव ही) उन्हें जानता है। ज्ञान तो निराकुल वर्तता हुआ शांत-अनाकुल सुख का कारण है, रागादिभाव आकुलतामय होने से दुःख का कारण है। —इसप्रकार अत्यंत विवेक से दोनों का स्पष्ट-भिन्नपना जानकर ज्ञानी अपने ज्ञानभावरूप

परिणमित हुआ है, और रागादि परिणमन से उसकी परिणति विमुख हो गई है-छूट गई है, इसलिये वह ज्ञान आस्रवों से भिन्न है और मोक्षमार्ग में परिणमित हुआ है। ऐसा ज्ञानपरिणमन, वह ज्ञानी का कार्य है, यही ज्ञानी का चिह्न है, उसके द्वारा ज्ञानी पहिचाना जाता है।

ज्ञानी के ज्ञानभाव में कर्म का या रागादि का तो कर्तापना है ही नहीं, परंतु ज्ञानी आत्मा कर्ता और ज्ञान उसका कार्य, इसप्रकार कर्ता-कर्म के भेद किये, वह भी व्यवहार है। अभेद आत्मा की अनुभूति में 'मैं कर्ता और ज्ञान मेरा कार्य'—ऐसे भेद या विकल्प नहीं रहते। यहाँ ज्ञानी का लक्षण अर्थात् ज्ञानी का कार्य समझने के लिये कर्ता-कर्म के भेद करके समझाया है।

जिसप्रकार मिट्टी और घड़ा एक ही स्वरूप के होने से व्याप्य-व्यापकरूप से उनके कर्ता-कर्मपना है, परंतु उसीप्रकार ज्ञान और राग कहीं एक स्वरूपवाले नहीं हैं, इसलिये उन्हें व्याप्य-व्यापकपना या कर्ता-कर्मपना नहीं है। ज्ञानी राग को जानता अवश्य है, परंतु 'यह मेरे ज्ञान का कार्य है'—ऐसा वह नहीं जानता; मैं चेतनस्वभावी हूँ, और ज्ञान मेरा कार्य है—ऐसा वह ज्ञानदृष्टि से अपने को अनुभवता है।

अहा, ऐसे ज्ञानस्वभाव की दृष्टि कठिन है... और उसके महान फल की तो क्या बात! भवरहित मेरी चेतनवस्तु, उसमें झुकी हुई मेरी चेतना, उस चेतना में भव का भाव नहीं। मेरा लक्षण ज्ञानचेतना है।

भाई, तूने जब तक रागादि को अपना माना, तब तक अज्ञानभाव से उनका कर्तृत्व है; परंतु जहाँ भेदज्ञान करके, राग से अत्यंत भिन्न केवल चेतकस्वभावरूप स्वयं अपने को अनुभव किया, वहाँ तेरे ज्ञान में अज्ञान नहीं रहा और राग का कर्तापना भी नहीं रहा। तुझमें उनका अस्तित्व ही नहीं है; इसलिये उन रागादि को भी अभेदरूप पुद्गल में ही डाल दिया, और राग के कर्तृत्व से छूटकर, ज्ञान-ज्ञान में ही केलि करता-करता मोक्ष के मार्ग पर चला।

अहा, कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदय का अमृत, अमृतचंद्राचार्यदेव ने समयसार में उडेल दिया है। ज्ञानी की परिणति में तो ऐसी ज्ञानचेतना का अमृत बहता है, उसमें राग के किसी अंश का समावेश नहीं होता। ऐसी पहिचान किये बिना ज्ञानी को वास्तव में पहिचाना नहीं जा सकता।

ज्ञानी तो कहता है कि मैं अपने आनंद में व्यापनेवाला हूँ, उसमें निवास करनेवाला हूँ;

मेरा व्याप्यस्थान तो मेरे ज्ञान-आनंद आदि शुद्ध परिणामों में है। रागादि बाह्यभावों में कहीं मेरा निवास नहीं, क्योंकि वह भाव मेरी चेतना की जाति के नहीं हैं। सविकल्पदशा हो या निर्विकल्पदशा हो-चाहे जब धर्मी अपने आत्मा को ज्ञानादि अनंत निर्मल भावों में ही व्याप्त जानता है, और उन निर्मल भावों का ही कर्ता होता है। रागादि किसी भाव का वह कर्ता नहीं होता। सविकल्पदशा के समय धर्मी उस विकल्प का कर्ता नहीं होता, उस समय विकल्प से भिन्न वर्तता हुआ जो ज्ञान है, उसी का वह कर्ता होता है। धर्मी राग को जानता है परंतु राग का कर्ता नहीं होता, वह राग के ज्ञान का ही कर्ता होता है।

ऐसी ज्ञानचेतनारूप परिणमित ज्ञानी को मरण का भय कैसा है? देह में मैं रहा ही नहीं हूँ, तो फिर मुझे मरण कैसा? मैं तो अपनी चेतनापरिणति में ही रहा हूँ।—चेतना-परिणति का नाम जैनधर्म है। अहा! ऐसा जैनधर्म! उसका स्वरूप जिसने समझ लिया है, उसे भव नहीं रहते।

अरे, जिससे चौरासी के दु:ख के अवतार धारण करना पड़ें, वह भाव धर्मी जीव का कार्य कैसे हो सकता है? भाई! गंभीर ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा, उसे जानकर भव का अंत करने के लिये यह भव है।

राग के समय ज्ञानी तो 'ज्ञानी' ही रहता है, रागी नहीं होता; राग को 'जानने की' क्रिया वह करता है, परंतु राग को 'करने की' क्रिया नहीं करता। (ज्ञप्तिक्रिया करता है, करोतिक्रिया नहीं करता।)

अरे, क्या सज्जन—आर्य मनुष्य के घर में माँस पकाने का काम होता है?—कभी नहीं होता; उसीप्रकार सत् ऐसा ज्ञानस्वभाव, उसमें वर्तनेवाले सत्जन—ज्ञानी—आर्य धर्मात्मा, उनके ज्ञानघर में रागादि विकार का कार्य कैसे होगा?—नहीं हो सकता। ज्ञानघर में विकार नहीं होता। इसलिये ज्ञानी धर्मात्मा रागादि विकारभाव का अकर्ता ही है, उसका कार्य परम शांत वीतरागभावरूप है; उसी में व्यापक होकर उसी को ग्रहण करता है।

मेरी सम्यक्त्वादि जो निर्मल पर्यायें हैं, उनके आदि-मध्य-अंत में अर्थात् उनमें सर्वत्र मेरा शुद्ध आत्मा ही विद्यमान है। परंतु आदि में, मध्य में या अंत में कहीं कर्म का रागादि परभाव मेरी पर्याय में विद्यमान नहीं है। मेरी सम्यक्त्वादि पर्यायों में अपने शुद्ध आत्मा के

अतिरिक्त अन्य किसी को मैं ग्रहण नहीं करता, उसका अवलंबन नहीं लेता। मुझे अपनी सम्यक्त्वपर्याय में, ज्ञान में, आनंद में कहीं राग का, निमित्त का देव-गुरु-शास्त्र किसी का ग्रहण नहीं है, परंतु अपने आत्मा का ही ग्रहण है, उसी को मैं ग्रहण करता हूँ। सम्यक्त्वपर्याय आत्मारूप होकर उत्पन्न हुई है, रागरूप होकर उत्पन्न नहीं हुई। कर्ता होकर अपनी ऐसी ज्ञानचेतनारूप पर्याय को करता है—वही धर्मी का लक्षण है।

卐 जय ज्ञानचेतना 卐

समयसार गाथा 75-78 में धर्मात्मा के चिह्नरूप ज्ञानचेतना का अद्भुत वर्णन आप पढ़ रहे हैं।

ज्ञानचेतनारूप हुआ साधक चैतन्य के आनंद का ही उपभोग करता है, अभी पर्याय में किंचित् राग-द्वेष या हर्ष-शोक के परिणाम हैं, उनका कर्ता-भोक्तापना उसकी चेतना में नहीं है, वे तो चेतना से बाहर हैं। धर्मी तो आनंदमय चेतनारूप ही अपने को करता-भोगता है।

ज्ञानचेतनारूप हुआ एक भोक्ता, वह परस्पर-विरुद्ध दो भावों को कैसे भोगेगा? अतीन्द्रिय आनंद को भी भोगे और हर्ष-शोक को भी भोगे—ऐसे दो भावों का ज्ञानी को भोक्तापना नहीं है, उसकी चेतना में परम आनंद का ही उपभोग है, उसमें कर्मफलचेतना का बिलकुल अभाव है। ज्ञानचेतना में सर्वत्र वीतरागी आनंद भरा हुआ है, ज्ञानचेतना में कहीं भी हर्ष-शोक किंचित् व्याप्त नहीं हुए। हर्ष-शोक को जानते समय भी ज्ञानचेतना तो ज्ञानचेतनारूप ही रहती है। ज्ञानचेतना, वह ज्ञानी का भाव है; हर्ष-शोकादि, वह ज्ञानी का भाव नहीं है, ज्ञानी की चेतना में से वह प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये उसके द्वारा ज्ञानी की पहिचान नहीं होती। अज्ञानी के अज्ञानभाव के साथ रागादि को कर्ता-कर्मपना है, तथा हर्षादि का भोक्ता-भोग्यपना है, परंतु ज्ञानी के ज्ञानभाव में तो रागादि के साथ अन्य कोई संबंध नहीं है। जिसका चैतन्यपिंड रागादि से भिन्न हो गया, उस ज्ञानी के चैतन्यभाव की क्या बात! ऐसे चैतन्यभाव को जगत के कोई राग-द्वेष, हर्ष-शोक, कर्म स्पर्श नहीं कर सकते; उन, समस्त परभावों को सतह पर तैरता हुआ पृथक् आनंदमय चैतन्यपिंड,—उसरूप ही ज्ञानी अपने को अनुभवता है। चैतन्य के सन्मुख राग या हर्ष का कोई मूल्य नहीं है। चाहे जैसी प्रतिकूलता के बीच भी ज्ञानी का चैतन्यपिंड दबता नहीं है; पृथक् का पृथक् रहता है। कौन देखेगा ज्ञानी के इस भाव को?

जिसका ज्ञान राग से, हर्ष-शोक से भिन्न हो जाये, वही ऐसे ज्ञानी को पहिचान सकता है। अहो! निर्विकल्प दृष्टि का ही यह सामर्थ्य है कि परभावों से भिन्न ज्ञानानंदस्वभावरूप अचिंत्य अद्‌भुत परमतत्त्व को अपने में देखता है; विकल्प में या इन्द्रियज्ञान में ऐसी शक्ति नहीं है कि ऐसे अद्‌भुत परमस्वभावी आत्मा को देखे। अहा, कितनी महान चैतन्यवस्तु अंतर में विद्यमान है। उससे मिलने के लिये उसके सन्मुख आना पड़ेगा। राग की सन्मुखता में इतना महान चैतन्यप्रभु कहाँ से दिखायी देगा? राग से पृथक् होकर इतने महान चैतन्यप्रभु के सन्मुख जो हुआ है, वह तो केवलज्ञान लेने के लिये चल पड़ा है... ऐसा चल पड़ा है कि अब आनंद करता-करता अल्पकाल में केवलज्ञान लेगा.. लेगा... लोगा...।

[गुजराती आत्मधर्म, अंक नं. 348, पृष्ठ 1 से 8 तक का हिन्दी अनुवाद]

मेरा आत्मा

मैं अपने स्वभाव की एकत्वभावनारूप परिणमित हुआ हूँ

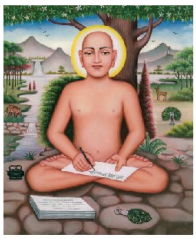

आजकल नियमसार के प्रवचन में स्वामीजी के भाव बहुत-बहुत स्पष्ट हो रहे हैं... और शुद्धात्मभावना में मुमुक्षु को तल्लीन करके अध्यात्म-सुख की किसी अनोखी नगरी में ले जाते हैं। वाह! मानो कुन्दकुन्द प्रभु साक्षात् पधारे हों और आत्मशोधक मुमुक्षु जीव उनसे पूछता हो कि प्रभो! मेरा शुद्धात्मा कैसा है, वह मुझे बतलाओ! और श्री कुन्दकुन्दस्वामी निजवैभव खोलकर उसे शुद्धात्मा दिखलाते हों, ऐसी सरस रचना है।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि अहो! ऐसे अचिंत्य गंभीर महिमावंत एकत्व-विभक्त स्वरूप को मैं अपने आत्मवैभव द्वारा दिखलाता हूँ... मैंने परमात्मा के पास से साक्षात् श्रवण किया है, ओर स्व-संवेदन से स्वयं अनुभव किया है, वह स्वरूप मैं तुम्हें दिखलाता हूँ, इसलिये तुम भी शीघ्र स्वानुभव द्वारा अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष करना। अन्य कहीं रुकना नहीं, शीघ्र अंतर में उतरकर अपने आत्मा के अचिंत्य अपार वैभव को प्राप्त कर लेना।—ऋषभदेव के जीव की भाँति!

[नियमसार, गाथा 102 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

ज्ञान-दर्शन लक्षण से परिपूर्ण, अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप और शाश्वत ऐसा आत्मा ही एक मेरा है, संयोग लक्षणवाले अन्य सर्व भाव मुझसे बाह्य हैं। वे कहीं मेरा स्वरूप नहीं हैं—इसप्रकार धर्मी अपने एकत्वस्वरूप को अनुभवता है।—उसका वर्णन आचार्यदेव इस गाथा में करते हैं—

'मेरा सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञानलक्षण जीव है;
अन्य सब संयोगलक्षण भाव, मुझसे बाह्य हैं॥102॥

ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष करके धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञान-दर्शन लक्षण से परिपूर्ण, शाश्वत एक आत्मा हूँ। अन्य समस्त भाव मेरे ज्ञानलक्षण से बाहर हैं, वे कोई मैं नहीं हूँ। अहो, ऐसे स्वसंवेद्य आत्मा में भव के कारणरूप कोई भाव नहीं हैं, तो मेरे भव कैसे? और शरीर कैसा?—इसप्रकार धर्मी शरीरादि से भिन्न एकत्व आत्मा का अनुभव करता है।

ज्ञान-दर्शन लक्षण में तो अतीन्द्रिय आनंद है, ऐसे अतीन्द्रियस्वभाव का स्पर्श किये बिना, अनुभव किये बिना जीव शुभाशुभभाव से चार गति में शरीर धारण कर-करके अकेला संसार में भ्रमण कर रहा है। श्रीगुरु के उपदेशानुसार आत्मा को जानकर भव्य जीव समस्त शुभाशुभ को अपने से बाह्य जानकर अतीन्द्रिय आनंद में प्रवेश कर जाता है और एकाकी मोक्षसुख को साधता है। धर्मी जानता है कि अहो, 'मैं तो अपने आनंद में हूँ, अकेला ही मैं अपने आत्मा में आनंदरूप परिणमित होता हूँ। मेरा आत्मा तो मेरे आनंद में है। मेरे ज्ञान-दर्शन-आनंद में किन्हीं रागादि भावों का प्रवेश नहीं है।' इसप्रकार चिदानंदस्वभाव के सन्मुख होकर एकत्वभावनारूप परिणमित हुआ ज्ञानी एकाकी अनुभव के सुख का उपभोग करते-करते मोक्ष को साधता है।

अहा, मेरी चैतन्यवस्तु! उसे श्रीगुरु के प्रसाद से मैंने किसी प्रकार प्राप्त किया है, अब उसके सहज अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करता हुआ उसी को मैं उपादेय करता हूँ, अहा, मेरे इस चैतन्यसुख के समक्ष यह शुभाशुभ विकल्प तो सब आडम्बर हैं, मेरे स्वरूप से वे बाह्य हैं।

मेरी चैतन्यवस्तु ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप है; ज्ञान-दर्शनमय चेतना में रागादि भावकर्म कैसे? मेरी चेतना में रागादि भावकर्म या द्रव्यकर्म नहीं हैं, तो उनके फलरूप शरीर मुझमें कैसा? अपने चेतनलक्षणरूप से मैं सदा शाश्वत एकरूप रहनेवाला हूँ।—ऐसा एकत्वस्वरूप श्री परमगुरु द्वारा प्राप्त हुआ, इसलिये एकत्वस्वभाव का निश्चय हुआ और समस्त परभावों को अपनी चेतना से बाहर भिन्न जाना।

भाई, इस आत्मा की एकत्वभावना के अतिरिक्त अन्य सब संसार का ही कारण है। एकत्वभावना अर्थात् मात्र चेतनलक्षण से परिपूर्ण, एक आत्मा की ही भावना, उसमें अन्य

किसी परभाव का प्रवेश नहीं है;—ऐसी एकत्वभावना में रागादि परभावों का अभाव है, कर्म का अभाव है, शरीर का अभाव है, इसलिये संसार का अभाव है। अहा! ऐसे एकत्वस्वरूप को प्राप्त करके जो उसमें स्थित रहते हैं, उनका अवतार धन्य है! उनसे संसार की जेल का वैभव तोड़ दिया है और चैतन्य के महान आनंद का अपने में अनुभव किया है। मोक्षनगरी में उनका प्रवेश हुआ है... चार गति से भिन्न ऐसी नई गति उन्होंने प्राप्त की है... अहा, सिद्धगति की महिमा की क्या बात! वह तो अनुपम है, जन्म-मरण रहित ध्रुव है। ऐसी अपूर्व सिद्धगति अंतर में एकत्वस्वभाव की भावना द्वारा प्राप्त होती है।

धर्मी कैसी एकत्वभावना भाता है—उसका यह अलौकिक वर्णन है। पुण्य-पाप के द्वंद्व से परे ऐसी चेतना ही मेरा लक्षण है; मेरी चेतना-दर्शन से पूर्ण है, और परभावों से रहित है। तीर्थंकर परमात्मा सीमंधर भगवान समवसरण-सभा में इंद्रों और गणधरों की उपस्थिति में ऐसे एकत्वस्वभाव की बात सुनाते हैं, उस एकत्वस्वभाव का श्रवण करते हुए इंद्र उसकी अचिंत्य महिमा के समक्ष अपने इंद्रपद को भी अति तुच्छ मानता है, और ऐसे एकत्वस्वभाव को परम भक्ति से प्राप्त करके वह भी एकावतारी होता है।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि अहो! ऐसे अचिंत्य गंभीर महिमावन्त एकत्व-विभक्त स्वरूप को मैं अपने आत्मवैभव द्वारा दिखलाता हूँ... मैंने भगवान के पास से साक्षात् श्रवण किया है और स्वसंवेदन से स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किया है, वह स्वरूप मैं तुम्हें दिखलाता हूँ, तो तुम भी शीघ्र स्वानुभव द्वारा अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष करना, अन्यत्र कहीं रुकना नहीं, शीघ्र अंतर में उतरकर अपने एकत्वस्वरूप के अचिंत्य-अपार वैभव को प्राप्त कर लेना।

अहा, 'आत्मा' किसे कहा जाये!! यह शरीर तो जड़ है, अंतर के शुभाशुभ विकल्प तो जन्म-मरण का कारण हैं, इन्हें आत्मा कैसे कहा जा सकता है? आत्मा तो शाश्वतरूप से ज्ञान-दर्शन लक्षण में विद्यमान है।—उसके ज्ञान-दर्शन लक्षण में राग की, कर्म की या शरीर की कोई उपाधि नहीं है, तीनों काल वह निरुपाधि है, तीनों काल निरावरण ऐसे ज्ञान-दर्शनस्वभाव से लक्षित आत्मा है।—वह एक ही मैं हूँ—इसप्रकार अंतर्मुख पर्याय द्वारा धर्मी जीव अपने एकत्वस्वभाव की भावनारूप परिणमित हुआ है। अहो! ऐसी भावना वह सम्यग्दर्शन की रीति है, ऐसी भावना में अतीन्द्रियसुख है, और ऐसी भावना, वह भव के नाश का कारण है, वही मोक्षपुरी का मार्ग है। जिसने ऐसी भावना भायी, उसने सादि-अनंतकाल आनंदमय निजगृह में निवास किया।

अरे, कहाँ चेतनलक्षणवंत भगवान आत्मा! और कहाँ शुभाशुभ विकल्प! उनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है। धर्मी जीव ने अंतर्मुख होकर भगवान आत्मा को अनुभव में लिया, वहाँ उसकी पर्याय शुभाशुभ-विकल्प से भिन्न हो गई; वह सम्यग्दृष्टि 'भगवान' हो गया, भगवान का उत्तराधिकार उसने ले लिया।

भाई, एकबार ऐसे आत्मा का निर्णय तो कर। निर्णय करते ही आत्मा भवसमुद्र के किनारे आ गया और मोक्षनगरी के निकट पहुँच गया। मेरा कारणपरमात्मा है, उसकी भावना में रागादि कोई परभाव नहीं हैं, वे समस्त परभाव मुझसे बाह्य हैं। मैंने अंतर में 'कारणपरमात्मा' को अपने कारणरूप में लिया है, इसलिये पर्याय में भी सम्यक्त्वादि आनंदमय कार्य वर्त रहा है। मेरे कारण के साथ शुद्धपर्याय की संधि है, उसमें रागादि समस्त भाव मेरे स्वरूप से बाहर रह जाते हैं।—उन रागादिभावों को मेरे कारणपरमात्मा के साथ संधि नहीं है। देखो तो, यह धर्मात्मा की एकत्व भावना! ऐसा एक आत्मा मैं हूँ—इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी परभावों को धर्मी अपनेरूप नहीं भाता, भिन्न ही जानता है। मेरा कारणपरमात्मा तो मेरे अतीन्द्रिय आनंद का कारण होता है, परंतु मेरा कारणपरमात्मा कहीं शरीर का या भव का कारण हो, ऐसा नहीं है। ऐसे कारणपरमात्मा की भावना में परिणमित होने से मुझमें शरीर या संसार नहीं है। संसार का कारण हो, ऐसा कोई लक्षण मुझमें है ही नहीं; मुझमें तो ज्ञानदर्शन लक्षण है। ज्ञानदर्शनमय चेतना, वह मेरा शाश्वत लक्षण है, वह आनंदमय है।

यह शरीर तो संसाररूपी नंदनवन को सींचने के लिये नाली समान है। भाई, शरीर के लक्ष से तो तेरा संसारवन उगेगा। अज्ञानी को संसार में शरीरादि की अनुकूलता के संयोग नंदनवन जैसे लगते हैं। भाई! उनमें तो दुःख है। तेरा चैतन्यतत्त्व, वह संसार की उत्पत्ति के कारण रहित है। ज्ञानलक्षण से आत्मा को लक्षित करने से संसाररूपी नंदनवन सूख जायेगा और उसके बदले तेरे आत्मा में सम्यक्त्वादि अनंतगुण का आनंद-उद्यान खिल उठेगा।—ऐसे परम शांत चैतन्य की भावना में शुभ-अशुभ किसी विकल्प का कोलाहल नहीं है।

मेरा चेतननाथ ऐसा नहीं है कि राग का भोग करे; मेरा चेतननाथ तो त्रिकाल अतीन्द्रिय महा आनंद को भोगनेवाला है, वह मेरी सर्व पर्यायों में उपादेयरूप विद्यमान हैं। मेरी परिणति में राग का निवास नहीं है; मेरी परिणति के लिये तो मेरा यह आनंदमय कारणपरमात्मा ही उपादेयरूप से विराजमान है।—'यह रहा प्रत्यक्ष... मेरे स्वसंवेदन में वर्त रहा है।'

अहा, मेरा आत्मा... इसमें से तो महा आनंद का ही झरना झरता है... शुभाशुभ विकल्प का कोलाहल उसमें से नहीं आता। संसार का समस्त कोलाहल मेरे तत्त्व से बाहर है। सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूप मेरा तत्त्व अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करनेवाला है, वही मेरी श्रद्धा-ज्ञानादि सर्व पर्यायों में उपादेय है। इसप्रकार स्वतत्त्व को ही उपादेय करके उसमें अंतर्मुख एकत्वभावनारूप परिणमित मेरे आत्मा में आनंद का सुंदर झरना प्रगट हुआ है... असंख्य प्रदेश में अनंतगुण का अतीन्द्रिय उद्यान खिल उठा है।

शरीर के साथ की एकत्वबुद्धि से तो संसार-वन फलेगा, शरीर में एकत्वबुद्धि के कारण तो चारों ओर से संसार-वन को पुष्टि करनेवाले शुभाशुभभावों का प्रवाह बहेगा, परंतु उसमें से कहीं शांति का प्रवाह नहीं बहता। शरीर में एकत्व, वह तो संसार-वन को पोषने का प्रवाह है; चैतन्य में एकत्वभावना, वह मोक्ष के उद्यान को पोषनेवाला झरना है।

भाई, शरीर से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञानलक्षण से लक्ष में लेकर, उसकी एकत्वभावना करने से आत्मा के असंख्यप्रदेशों में अतीन्द्रिय आनंद की सरिता बहेगी और संसार-वन सूख जायेगा, जन्म-मरण मिट जायेगा। इसलिये ऐसे आत्मा की भावना कर।

क्रिया 1-2-3

प्रश्न : जिसके ज्ञान न हो, उसके क्रिया होती है ?

उत्तर : हाँ, उसके ज्ञानक्रिया नहीं परंतु जड़किया तो होती है। अजीव पदार्थों में ज्ञान न होने पर भी अजीव-क्रिया तो वे करते ही हैं। जीव या अजीव प्रत्येक पदार्थ अपनी क्रिया से सम्पन्न ही होता है, क्रिया बिना कोई पदार्थ नहीं होता, इसलिये अपने ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी अजीव की या दूसरे की क्रिया मैं करूँ, ऐसा माननेवाला जीव अज्ञानी है। ज्ञानी तो ज्ञानक्रिया को ही अपनी जानकर उसकी का कर्ता होता है। ज्ञानी की क्रिया ज्ञानमय है, अज्ञानी की क्रिया राग-द्वेषमय है, जड़ की क्रिया जड़मय है। तीनों को भलीभाँति पहिचाननेवाला जीव जड़ की और विकार की क्रिया का कर्ता न होकर अपने ज्ञान की वीतरागी क्रिया को करता है। ऐसी क्रिया, वह मोक्ष की क्रिया है, वह धर्म की क्रिया है।

मेरी सर्व पर्यायों में मेरा आत्मा ही है

मेरी एक भी पर्याय में राग की तन्मयता नहीं है, मेरा शुद्ध आत्मा ही मेरी श्रद्धा-ज्ञानादि सर्वपर्यायों में तन्मयरूप वर्तता है, मेरी एक भी पर्याय में अपने चैतन्यनाथ का मुझे विरह नहीं है—इसप्रकार धर्मपर्यायरूप परिणमित धर्मी जीव अपने आत्मा का अनुभव करता है।

निजस्वभाव की अन्तर्मुख भावना द्वारा सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूप परिणमित धर्मात्मा जानता है कि—

मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा॥100॥

इस नियमसार में आत्मा के परम स्वभाव की भावना का अलौकिक वर्णन है। आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो! मैंने अपने आत्मा की निजभावना हेतु इस उत्तम शास्त्र की रचना की है। धर्मी को सर्वत्र सर्व निर्मल पर्यायों में अतीन्द्रियस्वभाववाला सहज सुखस्वरूप शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। आत्मा को उपादेय करके जो स्वयं सहज ज्ञानचेतनारूप परिणमित हुआ है—ऐसे धर्मी की यह बात है।

अज्ञानी रागादि परभाव को उपादेय करके अशुद्धपर्यायरूप परिणमित हो रहा है, इसलिये उसकी पर्याय में शुद्ध आत्मा कहीं दिखाई नहीं देता, वह तो सर्वत्र राग का ही अनुभव करता है।

ज्ञानी अपने सहजस्वभावी आत्मा को उपादेय करके शुद्धपर्यायरूप परिणमित हो रहा है, जिससे उसकी पर्याय में सर्वत्र शुद्ध आत्मा ही उसे अनुभव में आता है, और रागादि से उसकी शुद्धपरिणति भिन्न ही रहती है।

मैं स्वयं सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूप परिणमित हुआ हूँ, इसलिये मेरे सम्यग्ज्ञान में मेरा आत्मा ही विराजमान है। मेरी ज्ञानचेतना से मेरा चैतन्य प्रभु दूर नहीं है, 'मेरो धनी नहीं दूर दिसंतर, मोहि में है मोहे सुझते नीके' परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त किया हुआ मेरा शुद्ध कारणपरमात्मा मेरी ज्ञानचेतना में सदा पास ही है, और रागादि परभाव मेरी ज्ञानचेतना से सदा अत्यंत भिन्न के भिन्न होने से वह मुझसे दूर हैं।—वाह! देखो तो धर्मात्मा की ज्ञानचेतना! आनंदरस में मुझे ऐसी ज्ञानचेतना द्वारा धर्मी को पहिचानना, वह धर्मात्मा की सच्ची सेवा है।

चैतन्य के अमृत का स्वाद लेकर, विष जैसे विषयों को धर्मी जीव आनंदपूर्वक त्याग देते हैं। राग और विषयों को छोड़ना अज्ञानी को बहुत कठिन प्रतीत होता है-क्योंकि उनसे रहित आत्मा के आनंद की उसे खबर नहीं है। परंतु धर्मी को तो चैतन्य के आनंद के महान स्वाद के निकट समस्त विषय और विभावों का प्रेम अत्यंत सहजरूप से छूट जाता है। अतीन्द्रिय चैतन्य के स्वाद के सामने विषयों का स्वाद उड़ जाये।—इसमें आश्चर्य क्या है?

अहा, मेरे सम्यग्ज्ञान में मेरा शुद्ध आत्मा विराजमान है। पर्याय-पर्याय में मेरा परमात्मा प्रत्यक्ष है, फिर उसमें दुःख कैसा? और संसार कैसा? राग के ऊपर मेरी दृष्टि नहीं है, मेरी दृष्टि तो अपने परमात्मस्वभाव पर ही पड़ी है, इसलिये वही मेरे ज्ञान में समीप है।

अरे, अभी तो मति-श्रुतज्ञान है न? केवलज्ञान तो अभी हुआ नहीं है, तथापि साधक कहता है कि हमारे ज्ञान में परमात्मा विराजमान हैं! वाह, देखो साधक की ज्ञानदशा! साधक अपने स्वसंवेदनमय मति-श्रुतज्ञान द्वारा केवलज्ञान को बुलाता है कि आओ... केवलज्ञान आओ! शक्ति में है, वह व्यक्त होओ... षट्खंडागम की यह बात स्वामीजी अत्यंत प्रमोदपूर्वक कई बार कहते हैं... और षट्खंडागम के ऐसे उत्तम न्यायों का प्रसाद आप ही अलगे वर्ष के आत्मधर्म में पढ़ेंगे। भले मति-श्रुतज्ञान हो, तथापि वह ज्ञान राग से भिन्न ही वर्तता है और उसने अंतर में परमात्मस्वभाव के साथ संधि की है—इसलिये उसकी ज्ञानचेतना में अतीन्द्रिय आनंदसहित भगवान आत्मा निकट ही वर्तता है। राग का कोई अंश उसकी ज्ञानचेतना में नहीं वर्तता।

अरे जीव! परमस्वभाव की उत्कृष्ट भावना द्वारा चेतना को जागृत करके ऐसा पुरुषार्थ कर कि एक क्षण में अंतर में चिदानंद स्वभाव में पहुँच जाये, तेरा आत्मा तुझमें ही अत्यंत

समीप है, तथापि उसे दूर समझकर तूने राग के साथ मित्रता की है, परंतु राग तो तेरे स्वभाव से दूर है। चेतना में आत्मा की ही निकटता है और रागादि भाव दूर हैं। इसलिये अंतर्दृष्टि में आत्मा को ही निकट करके उसमें परिणाम को तन्मय करके आनंद का अनुभव कर।

श्रीगुरुओं का यह उत्तम उपदेश है कि अपने परिणाम में अपने चैतन्यस्वभावी आत्मा को ही तू मुख्य रख; उसे ही निकट रख और उसके अतिरिक्त अन्य समस्त परभावों को दूर रख, भिन्न रख। ऐसा करने से अपने में शुद्धात्मतत्त्व की आनंदमय अनुभूति हुई, वही परम गुरु का प्रसाद है। अहा, परम गुरुओं ने प्रसन्न होकर हमें ऐसे शुद्धात्मा का प्रसाद दिया है, उनके अनुग्रह द्वारा हमें जो शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश मिला, उससे हमें स्वसंवेदनरूप आत्मवैभव प्रगट हुआ है।

धर्मात्मा ज्ञानचेतनावंत हुए हैं; उनकी चेतना की एक भी पर्याय में आत्मा दूर नहीं है; उन्होंने चेतना का संबंध आत्मा के साथ जोड़ा है, और राग के साथ चेतना का संबंध तोड़ दिया है। ऐसी चेतनारूप से ही ज्ञानी धर्मात्मा की सच्ची पहिचान होती है।

अरे! जहाँ अपना शुद्ध आत्मा समीप नहीं है, शुद्ध आत्मा जिसकी दृष्टि में-ज्ञान में-अनुभव में नहीं आया, वह जीव निजात्मा को दूर रखकर, आत्मा को भूलकर धर्म कहाँ से प्राप्त करेगा?—सुख कहाँ से प्राप्त करेगा? धर्मी तो जानता है कि मेरी श्रद्धा में, मेरे ज्ञान में, मेरे सुख में मेरी समस्त पर्यायों में मेरा चिदानन्दी आत्मा ही मुझे समीप वर्तता है, उसी का हमें अवलंबन है। ऐसे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कहीं मेरी परिणति स्थिर नहीं होती।-वाह रे वाह! धर्मी की दशा तो देखो! हमारा आत्मा सदा सर्वत्र हमारे अंतर में हमारे साथ ही है, जगत के संग का हमें क्या काम है? शुभराग का भी हमें धर्म में साथ नहीं, अपने चैतन्य का ही हमें साथ है, उसे हम कभी छोड़ते नहीं हैं। सीताजी को वनवास मिला, राम का वियोग हुआ, परंतु उस समय भी अंतर में उनका 'आतमराम' उनके पास ही था। अयोध्या भले दूर हो, व्याकुल प्रजा दूर हो, राज्यकार्य सब दूरी हों और राजा राम भी दूर हो, परंतु भगवान 'आतमराम' अंतर से किंचित् दूर नहीं हुए, आत्मा तो समीप-अति समीप ही है। चाहे जहाँ हो, धर्मी जानता है, उनमें महा पूज्य पंचमभावरूप चैतन्य भगवान हमें प्रत्यक्ष वर्तता है। उसी की भावना में हमारी परिणति तन्मय वर्तती है। उस परिणति में समस्त चैतन्य निधान प्रगट हो गये हैं। राग से पृथक् होकर अंतरोन्मुख हुई हमारी परिणति में हमारा चैतन्यनिधान गुप्त नहीं रह सकता।

अहा, परिपूर्ण सुख का निधान मेरा आत्मा, उसकी भावनारूप मैं परिणमित हुआ हूँ; इसलिये भव के कारणरूप समस्त भावों से मैं निवृत्त हूँ। भविष्य में जिनसे भव करना पड़े, ऐसे कोई भी अशुभ या शुभरूप संसारभाव-उनसे मेरा आत्मा निवृत्त है। मेरे स्वभाव में भव नहीं हैं, और उस स्वभाव की भावनारूप परिणमित मेरी पर्याय में भी भव का कोई भाव नहीं है—ऐसा मैं हूँ। ऐसा धर्मी अनुभव करता है।

मेरा सुखनिधान परम तत्त्व-वह अत्यंत सुंदर नौका है, मैं उस परमतत्त्वरूप सुंदर नौका में बैठा हूँ। मेरा यह परमतत्त्व स्वयं ही संसार के महा समुद्र को तिरने की नौका है, इसलिये अपने तत्त्व की भावना से मैं स्वयं भवसमुद्र को पार कर लूँगा; भव से पार होने के लिये मुझे अन्य किसी के अवलंबन की आवश्यकता नहीं है। अहा, मेरा ऐसा परम अचिंत्य तत्त्व! उसके स्वीकार द्वारा मैंने मोह को जीत लिया है, अब मैं भव-समुद्र में नहीं डूब सकता। सहज परम आनंद के समुद्र में परिणति लीन हुई, वहाँ अब भव कैसे? चैतन्य का शाश्वत महा आनंद... उसकी क्या बात! यह अपूर्व आनंद जगत में प्रसिद्ध है... सिद्ध भगवंतों में भरा हुआ वह अतीन्द्रिय महा आनंद हमारे आत्मा में भी प्रगट हुआ है; अहा! ऐसे महा अपूर्व आनंद का स्वाद चख लेने पर काम के क्लेश की कौन इच्छा करेगा? जो कामवासना के क्लेश से विषयों में सुख मानते हैं, वे तो जड़बुद्धि हैं।

अहा, चैतन्य का विषयातीत सुख!.....उस सुखामृत का स्वाद लेने के पश्चात् विषयों के विष की कौन इच्छा करेगा? उनमें सुख कौन मानेगा?

ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी;
ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत, सम्भवे नांही॥

अहो, जिनके अंतर में भेदज्ञान की वीतरागी कला प्रगट हुई है, जगत से सहज वैरागी होकर अंतर्मुख चैतन्यसुख जिनने चखा है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा जगत से उदासीन परम वैराग्यवंत जीव कभी विषयों में सुख मानकर उसमें तल्लीन हों—ऐसी विपरीतता हो नहीं सकती। विषयातीत चैतन्य सुख का अनुभव करे और विषयों में भी सुख माने—यह तो अत्यंत विपरीतता है, वह कदापि संभव नहीं है। ज्ञानी तो कहता है कि अरे, चैतन्य के सुख की परम अतीन्द्रिय शांति का अनुभव कर लेने पर, बाह्य विषय हमें क्लेशरूप लगते हैं, उनमें कहीं

हमारी परिणति स्थिर नहीं होती। परिणति को स्थिर होने का स्थान एक ही अंतर में सुख का धाम है। उसी में हमारा चित्त लगा है, विषय में या राग में कहीं हमें अपना आत्मा दिखायी नहीं देता, हमारा आत्मा तो उन विषयों और राग से परे हैं, हमारे अंतर्मुख ज्ञान-दर्शन-आनंद में ही विराजमान है, उसी को हम अनुभवते हैं।—इसप्रकार धर्मपर्यायरूप परिणमित अखंड आत्मा ही धर्मी को सर्वत्र उपादेय है।

[गुजराती आत्मधर्म, अंक 348, पृष्ठ 14 से 18 तक का हिन्दी अनुवाद]

अध्यात्म-पद

(राग-मल्हार)

सद्गुरु सहज स्वभाव सुझायो।
शुद्ध, अखंड, निराकुल आतम त्रिकाली समझायो॥
सद्गुरु सहज स्वभाव सुझायो॥
परद्रव्यों को ही पर समझा, राग-द्वेष लपटायो।
राग-द्वेष भी निज से न्यारा, ऐसो भान करायो।।सद्गुरु०॥
दृष्टि निमित्ताधीन रही नित, पर करता चित आयो।
जो प्रणमें सो ही करता है, ऐसो मंत्र बतायो।।सद्गुरु०॥
भूत भविष्यत वर्तमान में—है जैसो दरशायो।
सिद्ध समान 'भंवर' नित है वो, जो निज मांय समायो॥
सद्गुरु सहज स्वभाव सुझायो॥

—एक आत्मार्थी, गोहाटी

धर्मात्मा का आत्मचिंतन

आत्मा की आराधना का अवसर आया है! चैतन्यवीर की वीरता उमड़ पड़े, ऐसे परमतत्त्व की यह बात है... हम चैतन्यहंस आनंदसरोवर में केलि करनेवाले और वीतरागी मोती चुगनेवाले हैं... हमारे श्रद्धा-ज्ञान में परमात्मतत्त्व जयवंत वर्तता है।

[नियमसार गाथा 96 पर पूज्य गुरुदेव का चैतन्य-उल्लास से भरपूर प्रवचन]

ज्ञानी धर्मात्मा अपने आत्मा को कैसा ध्याता है? उसका यह वर्णन है—

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वहीं, यह चिंतवन होता निरंतर ज्ञानि को॥96॥

केवलज्ञानस्वभावी, केवलदर्शनस्वभावी, केवलसुखमय और केवलशक्तिस्वभावी मैं हूँ—इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा को अनंत चतुष्टय-संपन्न चिंतवन करता है।

अब, अनंत चतुष्टयरूप जो प्रगट पर्याय है, वह शुद्ध सद्भूत व्यवहार है, इसलिये उसकी भावना, वह व्यवहार से है; और केवलज्ञानादि पर्यायों के आधाररूप सहज अनंत-चतुष्टयस्वरूप आत्मस्वभाव अनादि-अनंत है, वह निश्चय है, इसलिये उसकी भावना करनी चाहिये। भावना अर्थात् तन्मय परिणति; वह भावना विकल्परूप नहीं है, परंतु अंतर्मुख होकर 'सहजज्ञानादि स्वरूप मैं हूँ'—ऐसी जो अनुभूति है, उसका नाम भावना है, वह मोक्षमार्ग है।

मैं सहजज्ञानस्वरूप त्रिकाल हूँ, मैं सहज दर्शनस्वरूप त्रिकाल हूँ, मैं सहज चारित्रस्वरूप त्रिकाल हूँ; उस चारित्र में श्रद्धा और आनंद भी अविनाभावी हैं, और मैं सहज चैतन्यशक्तिस्वरूप त्रिकाल हूँ;—इसप्रकार धर्मी जीव अंतर में एकाग्र होकर अपना चिंतवन करता है—और ज्ञानी होने के लिये तुम भी अपने को ऐसे आत्मस्वरूप चिंतवन करो—ऐसी भव्य जीवों को शिक्षा है।

अरे भाई, अपने को अनादिकाल से रागवाला, विकारवाला, शरीरवाला मानकर उसकी मिथ्या भावना भायी और उससे तूने भवचक्र में भ्रमण किया; परंतु अब पलटकर सहज

चिदानंदस्वभाव के सन्मुख होकर अनंत सहज चतुष्टयस्वरूप अपने आत्मा की भावना कर। ऐसे स्वभाव की भावना द्वारा पर्याय में केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयरूप कार्य प्रगट होगा।

ऐसे स्वभाव की भावना द्वारा पर्याय में परभावों का प्रत्याख्यान हो जाता है। देखो, यह पर्यूषणपर्व में सच्चे प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा जाता है। स्वभावोन्मुख होकर जिसने एकबार सर्व भावों का प्रत्याख्यान किया है, उसे अब राग और अल्पज्ञता नहीं रहेगी, उसे तो सहज स्वभाव की भावना द्वारा केवलज्ञानादि प्रगट होंगे; उसे सादि-अनंत काल के लिये परभाव का प्रत्याख्यान हो गया है। निश्चय से मेरा सहज ज्ञानस्वभाव समस्त परभाव के प्रत्याख्यानस्वरूप ही है, जहाँ उसके सन्मुख हुआ, वहाँ पर्याय में से भी परभावों का प्रत्याख्यान हो गया।

अहो, ऐसे स्वभाव की अचिंत्य महिमा लाकर उसकी भावना करने योग्य है।—यही पर्यूषण की सच्ची उपासना है। अपनी पर्याय के प्रवाह को अपने अनंतचतुष्टय से भरपूर चैतन्यस्वभाव-समुद्र में मोड़ दे। धर्मी कहता है कि अहो, ऐसे स्वभाव के आश्रय से हमारी नाव इस भवसमुद्र से पार हो जायेगी। हमने अपने सहज स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लिया है, उसी के अवलंबन से हम अनंत चतुष्टयरूप होकर संसार से पार हो जायेंगे; अपूर्ण पर्याय या विकार अब नहीं रहेगा।

देखो तो सही, यह धर्मात्मा की भावना! ऐसा स्वभाव अंतर में है। है, उसकी यह भावना है। सत् का स्वीकार करके उसमें एकाग्रतारूप यह भावना है। स्वभाव के आश्रय से पर्याय प्रगट हुई, उसका भेद धर्मी नहीं करता। ऐसे सहज सत्स्वभाव का स्वीकार, वही सम्यग्दर्शन है। उसके ज्ञान में संदेह नहीं, अस्थिरता नहीं। वह अपने को अंतर में निःशंकरूप अनंत चतुष्टयस्वभावरूप अवलोकन करता है। अहा, ऐसे परम तत्त्वरूप अपने को देखा, वहाँ अब बाहर का अन्य क्या जानना-देखना रहा?—वाह! आज तो ऐसे आत्मा की प्रतीतिरूप सम्यक्त्व का दिन है। ऐसे आत्मा की प्रतीति करके सम्यक्त्व करने जैसा है। और सम्यक्त्व हो गया हो, तब भी ऐसे ही आत्मा की भावना करनेयोग्य है, यही पर्यूषण है। अनंत आनंद से उल्लसित मेरा तत्त्व, उसके सम्मुख दृष्टि करते ही आनंद हो, ऐसा यह तत्त्व है। महान अचिंत्य आनंद के निधान जिसकी गंभीरता में विद्यमान हैं, उसकी सन्मुखता में क्लेश कैसा? और भार कैसा? चैतन्य की श्रद्धा और एकाग्रता में कोई क्लेश या भार नहीं है; इसके विपरीत अनंत काल के विभाव का भार उतर जाने से आत्मा भाररहित हो जाता है।—ऐसा यह तत्त्व है।

तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि से प्रगट हुआ यह तत्त्व है।

इधर पूर्ण पर्याय का विरह है, बाह्य में सीमंधरादि परमात्मा का विरह है! परंतु धर्मी कहता है कि अपने अंतर के सहज परमात्मतत्त्व को मैंने प्रतीति में लिया है-अनुभव में लिया है... अब परमात्मा का विरह नहीं रहेगा।—अहा, ऐसा परमतत्त्व! उसे सुनते ही राग की रुचिवाले कायर का कलेजा काँप उठता है, परंतु चैतन्यरुचिवंत वीरों का तो वीरत्व उमड़ पड़ता है और उसकी परिणति अंतर के स्वभाव में झुक जाती है। अहा, मेरे परमात्मतत्त्व की अनंत-अनंत महिमा की क्या बात करना? अंतर के भावश्रुत से जिसकी प्रतीति हो, ऐसा अद्भुत स्वभाव है। साधक के भावश्रुत में अंतर का परमात्मतत्त्व छिपा नहीं रह सकता। अंतरोन्मुख हुए भावश्रुत में समस्त परभावों का प्रत्याख्यान है। हे भाई! ऐसे पूर्ण स्वभाव की भावना कर... तेरी भावना अवश्य पूर्ण होगी।

अेह परमपद-प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो।
तोपण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाअे थाशुं ते ज स्वरूप जो...

जिसने अंतर में अपने चिदानंद भगवान को देखा है-जाना है-अनुभव किया है, उसकी वाणी में भी उसका संपूर्ण कथन नहीं आता; वह तो अनुभवगोचर अतीन्द्रिय तत्त्व है; वाणी में तो स्थूल-स्थूल बात आती है, सूक्ष्म स्वभाव तो अनुभवगोचर है।-ऐसे स्वभाव को स्वसंवेदन से अनुभवगोचर करके धर्मी कहता है कि—हमने अपने में धर्म की नींव डाली है। स्वभाव को अनुभवगोचर किया है, उसी की भावना करते हैं, उस भावना के द्वारा अब अल्पकाल में पूर्ण परमात्मपद को साक्षात् प्राप्त करेंगे... करेंगे... करेंगे।

***

अहो, केवलज्ञानादि स्वभाव से परिपूर्ण मेरा परम चैतन्यतत्त्व, उसे देखते-जानते-अनुभव करते हुए परम अद्भुत आनंद का अनुभव हुआ; तो अब इस परम तत्त्व के अलावा जानना-देखना क्या शेष रहा? सबको जानने के सामर्थ्यवाला अपना ज्ञानस्वभाव मैंने जान लिया है। मात्र पूर्णज्ञान और ऐसे ही अन्य अनंत स्वभाव जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा अखंड

आत्मा मैं हूँ—इसप्रकार अंतर्मुख स्वसंवेदन परिणति से जिसने जान लिया है, उसने जाननेयोग्य सब जान लिया है। अहा, ऐसे तत्त्व का जिसने उत्साह से श्रवण किया, उसने क्या नहीं सुना ? भाई, तूने जगत की राग=द्वेष की बात सुनी, परंतु उसमें कोई हित न हुआ, अब यह केवलज्ञान-आनंदस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा की बात प्रेम से सुनकर उसे लक्ष में ले, तो तूने समस्त जैनशासन का श्रवण कर लिया है। अहा, चैतन्यराजा को जिसने अनुभव में प्राप्त कर लिया, उसका मन अब अन्य किस पदार्थ में जायेगा ? इस चैतन्य महातत्त्व के समक्ष जगत के समस्त पदार्थ तुच्छ हैं, चैतन्य की महिमा के पास धर्मात्मा को जगत के किसी भी इंद्रादि वैभव की महिमा नहीं आती। परिणति ने अंतर में एकाग्र होकर अपने चैतन्य-प्रभु के साथ केलि की, वहाँ परम आनंदमय अभेद अनुभूति में राग का या अपूर्णता का लक्ष नहीं रहा, केवलज्ञानादि पर्याय का भी लक्ष नहीं रहा, पूर्ण अभेद परमात्मा श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में आया, वहाँ उस आत्मा की पर्याय स्वयं ही जैनधर्म है, उसने समस्त जैनशासन का अनुभव कर लिया है। वह आत्मा स्वयं धर्म का कल्पवृक्ष होकर अपने को सम्यक्त्व से लेकर सिद्धपद तक के फल प्रदान करता है।

समस्त मुनिजनों के हृदय-कमल का हंस ऐसा यह जो शाश्वत् केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकल विमल दृष्टिवंत, शाश्वत आनंदरूप, सहज परम चैतन्यशक्तिमय परमात्मा है, वह जयवन्त है;—इसप्रकार धर्मी जीव अपने अंतर में चैतन्यतत्त्व को देखता है।

ऐसा परमात्म-हंस धर्मी जीवों के हृदय में जयवंत है... जयवंत है, अर्थात् हमारे श्रद्धा-ज्ञान में वह साक्षात् वर्तता है। धर्मी जानता है कि अहो! अनंत चतुष्टयरूपी मोती को चुगनेवाला चैतन्यहंस हमारे हृदय सरोवर में (अर्थात् हमारी अनुभूति में) विराजमान है। हंस को केलि करने का स्थान हमारे चैतन्य सरोवर में है। चैतन्यहंस राग का चारा नहीं चरता, राग के गँदले तालाब में हंस नहीं रहता, वह तो स्वच्छ चैतन्य सरोवर में ही केलि करता है। राग में केलि करनेवाला मैं नहीं हूँ, मैं तो स्वानुभूति के आनंद में रमण करनेवाला हूँ।—ऐसी अनुभूति होने पर धर्मी को मोक्ष का मंगल-घंटा बज उठा है। (घड़ी में 8.00 का घंटा बजते ही स्वामीजी ने कहा:) अहा! विजय का घंटा बजा... डंके की चोट पूर्ण तत्त्व की प्रतीत की ललकार करता हुआ धर्मी जानता है कि—हम तो अपने पूर्ण आत्मा की सेवा करनेवाले हंस हैं, विकाररूप

विष का प्याला हम नहीं पीते, हम तो चैतन्यसरोवर का अमृत पीनेवाले हैं... शरीर विद्यमान होने पर भी अशरीरी भाव का अनुभव करनेवाले हैं... आनंद का अमृत पीनेवाले हैं।

हंस अपनी चोंच द्वारा दूध और पानी में से दूध को ग्रहण कर लेता है, उसीप्रकार धर्मी चैतन्यहंस, वह भेदज्ञानरूपी अतीन्द्रिय चोंच द्वारा विकार को पृथक् करके शुद्ध चैतन्यतत्त्व का स्वीकार कर लेता है कि हम तो ऐसे पूर्णानंदी परमात्मतत्त्व हैं। हमारे ज्ञान में-श्रद्धा में-अनुभव में ऐसा परमतत्त्व ही जयवंतरूप से विराजमान है, विकारभाव तो क्षयवंत है—जयवंत नहीं। हमारी पर्याय अंतरोन्मुख हुई, उसमें विकार की उपस्थिति कैसी? उसमें तो हमारा सहज उत्कृष्ट परिपूर्ण एक चैतन्यतत्त्व ही विद्यमानरूप से जयवंत वर्तता है।

अहो जीवो! ऐसे परमतत्त्व की आराधना का यह उत्तम अवसर है।

भगवान की भक्ति

बर्फ तो शीतल है... परंतु वह जिसमें रखा हो, वह बर्तन भी शीतल हो जाता है... उसीप्रकार हे प्रभु! आप तो चैतन्य के परमशांतरस में स्थिर हो गये हैं, और आप जिसमें निवास करते हैं, वह शरीर भी मानों शांतरस का पिंड हो—ऐसा हो गया है।—आपका शरीर भी मानों जगत के शांतरस के परमाणुओं से बना हो! ऐसा भक्तामर स्तोत्र में कहा है।

फिर कहता है कि हे नाथ! मैं अल्पशक्तिवाला (मति-श्रुतज्ञानवाला) छोटा होने पर भी आप जैसे महान केवलज्ञानी की स्तुति करने को उद्यत हुआ हूँ।—आपकी सर्वज्ञता के प्रति मुझे परम प्रेम है। अल्पज्ञ होने पर भी सर्वज्ञ की स्तुति कैसे हो सकती है? तो कहते हैं कि—जैसे मृगी अपने बच्चे के परम प्रेम के कारण उसकी रक्षा के हेतु सिंह के सामने जाती है... उसीप्रकार अल्पज्ञान होने पर भी हे नाथ! सर्वज्ञ परमपद की अत्यंत प्रीति के कारण राग का संबंध तोड़कर ज्ञानस्वभाव के स्वसंवेदन के बल से मैं आपकी स्तुति करते-करते सर्वज्ञपद को साधता हूँ। भले ही छोटा, तथापि सर्वज्ञपद की गोद में बैठा हूँ, सर्वज्ञ का नंदन और सर्वज्ञ का उत्तराधिकारी हुआ हूँ—इसप्रकार धर्मी - निःशंकरूप से सर्वज्ञपद को साधता है।

[गुजराती आत्मधर्म अंक 347, पृष्ठ 3 से 7 तक का हिन्दी अनुवाद]

परम शुद्धात्म-प्रकाशक पंचरत्न

नियमसार में 77 से 81 तक की पाँच गाथाओं को पाँच रत्न कहा है। कुन्दकुन्द प्रभु ने इन पाँच रत्नों द्वारा परम चैतन्यतत्त्व को प्रकाशित किया है। शुद्धात्मसन्मुख निर्मल परिणतिरूप परिणत जीव अपने को कैसा अनुभव करता है, उसका अद्भुत चैतन्यस्पर्शी वर्णन इस गाथा के प्रवचनों में स्वामीजी ने किया है। अहा, धर्मात्मा की अनुभूति कितनी गहरी और कितनी गंभीर है! उसे लक्षगत करने के लिये तो अंतर में चैतन्य के पाताल में प्रवेश करना चाहिए। वह अनुभूति मुमुक्षु को परम आह्लादित करनेवाली है।

शुद्ध परमात्मतत्त्व में जिसकी पर्याय ढल गई है, वह धर्मी जीव अपने आत्मा को कैसा अनुभवता है, उसका यह वर्णन है। जिसकी पर्याय अंतर्मुख होकर अभेद हुई है, वह अपने आत्मा को ऐसा अनुभवता है कि मैं सत्ता-अवबोध-परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन हूँ, उससे बाह्य कोई भाव मैं नहीं हूँ। नारकादि या क्रोधादि किसी विभाव पर्यायरूप मैं नहीं होता। सहज चैतन्य के विलासस्वरूप ही मैं अपने को अनुभवता हूँ, मेरे ऐसे आत्मा को ही मैं ध्याता हूँ—भाता हूँ। 'भाना' उसमें विकल्प नहीं है, परंतु उसके सन्मुख एकाग्र होकर भाना-परिणमित होना, वह भावना है। इसलिये उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अभेद समा जाते हैं।—ऐसी अभेद भावना का नाम परमार्थ प्रतिक्रमण है, वह जीव ऐसे आत्मा की भावना द्वारा परभावों से पराङ्मुख हो गया, इसलिये उसे परभावों का प्रतिक्रमण हो गया। आत्मा के स्वभाव में एकाग्रतारूप ऐसी भावना के बिना परभावों से सच्चा प्रतिक्रमण नहीं होता।

धर्मी ऐसा अनुभवता है कि सहज परम तत्त्व में ढली हुई चेतना में मोह-राग-द्वेषादि भाव नहीं हैं, इसलिये उसके फलरूप नरकादि चारगतियाँ भी मुझे नहीं हैं; परिणति संसार के

क्लेश से छूटकर आनंदधाम में प्रवेश कर गई है अर्थात् आनंदरूप हो गई है। आनंद में क्लेश कैसा? उसमें चार गति कैसी? और गति के कारणरूप विभाव कैसे? अरे! जिन्हें ऐसी परिणति हुई, वे दुनिया की ओर देखने को नहीं रुकते, दुनिया तो चाहे जो कहेगी... मैं तो अपने चैत्न्य के आश्रय से अपनी आनंददशा में परिणमित हो रहा हूँ। मैंने अपने बलवान आत्मा की बाँह पकड़ी है, अब मुझे क्या चिन्ता है? ऐसी चैतन्यपरिणति को करनेवाला मैं संसार के कारणरूप क्रोधादि किन्हीं भावों को नहीं करता, विभाव का कर्तृत्व मुझमें है ही नहीं—ऐसा सहज परिणमन धर्मी को वर्तता है। ज्ञानरत्न उसे प्रगट हुआ है। श्रद्धारत्न-ज्ञानरत्न-आनंदरत्न ऐसे अनंत गुणरत्न उसकी पर्याय में झलक रहे हैं।—वाह!

पाँच रत्नों जैसी पाँच गाथाओं द्वारा जिसने अपने परम चैतन्यतत्त्व को लक्षगत किया है, वह जीव अंतर की परिणति में ऐसा अनुभवता है कि इस आत्मतत्त्व में स्वर्ग-नरकादि चार गति के योग्य शुभाशुभ विभाव नहीं हैं। चौदह मार्गणास्थान-गुणस्थान, अथवा जीवस्थानों के भेद-विकल्प भी उस परम तत्त्व के अनुभव में नहीं हैं। उन सबसे परे मात्र चैतन्य अनुभूति द्वारा अनुभव में आनेवाला परम तत्त्व मैं हूँ। अहा, ऐसा शांतरसमय मेरा आत्मतत्त्व और उसके सन्मुख हुई मेरी परिणति, उसमें किंचित् सांसारिक कोलाहल नहीं है? संसार के क्लेशमय कोलाहल से मेरा तत्त्व अत्यन्त दूर है। चैतन्यतत्त्व का इसप्रकार धर्मी अपने अंतरतत्त्वरूप चैतन्यतत्त्व का अनुभव करता है। समस्त परभाव उसकी अनुभूति से बाह्य है।

धर्मी की पर्याय अंतर्मुख होकर ऐसा अनुभव करती है कि गति, राग आदि विभावों से रहित एक परम चैतन्यभाव मैं हूँ। पर्याय के किसी भी विकल्प का मैं कर्ता नहीं, उसका कारण मैं नहीं, उसे करनेवाला या अनुमोदन करनेवाला भी मैं नहीं। एक सहज परम स्वभाव ही मैं हूँ—ऐसा निश्चयनय देखता है। शुद्धनिश्चयनय और उसका विषय अभेद है, उसमें भेद नहीं रहता, विकल्प नहीं रहता। शुद्धनय द्वारा ऐसे अभेद आत्मा की अनुभूति करना ही परम शांतिरूप मोक्षमार्ग है।

प्रश्न : वर्तमान में तो ऐसा मार्ग चलता नहीं है।

उत्तर : कौन कहता है कि नहीं चलता? अपनी पर्याय में जो आत्मा ऐसा अनुभव करे, उसे वर्तमान में भी अपने में ऐसा मोक्षमार्ग चल रहा है... उसकी परिणति ही मोक्षमार्ग है। धर्मी

को अंतर में ऐसा मार्ग खुल गया है। मोक्ष के महा सुख का स्वाद लेता-लेता वह मोक्ष के मार्ग पर चल रहा है। धन्य मार्ग! धन्य उस पर चलनेवाले!—बाह्य में ऐसा मार्ग नहीं है।

प्रश्न : ऐसे मार्ग पर हम कैसे चलें?

उत्तर : भाई! अंतर में ऐसे मार्ग का अनुभव कर-करके अनंत जीव मोक्ष में गये हैं। और जगत में असंख्यात जीव वर्तमान में भी ऐसे मार्ग को साध रहे हैं, इसलिये आत्मा से न हो सके, ऐसा कहीं यह मार्ग नहीं है परंतु जीव से हो सके, ऐसा यह मार्ग है। जो जीव ऐसे मार्ग में आया, उसे अपने मोक्ष के लिये निःशंकता हो जाती है, उसे मोक्ष के महा सुख का नमूना वर्तमान में ही आत्मा में आ जाता है।

मैंने चैतन्यस्वभाव से शोभायमान भगवान के दरबार में प्रवेश किया, वहाँ नरकादि के योग्य उदयभाव मुझमें कैसे? मेरे चैतन्यभगवान में किन्हीं उदयभावों का प्रवेश नहीं है—ऐसी अनुभूति धर्मी को हुई है।

जिसकी परिणति अंतरस्वभाव में परिणमित हुई है और उदयभाव से भिन्न हुई है, ऐसे जीव की यह बात है। वह जीव ऐसा अनुभव करता है कि रागादि समस्त परभाव मेरे चैतन्य की अनुभूति में नहीं हैं। व्यवहार में वे भले हों, परंतु मेरी अनुभूति में भव का अभाव कैसे हो? आनंद के समुद्र में डुबकी लगायी उसमें दुःख कैसे होगा?

[गुजराती आत्मधर्म, अंक 347, पृष्ठ 21 से 23 तक का हिन्दी अनुवाद]

गुण-भक्ति

प्रश्न : सच्ची भक्ति क्या है?

उत्तर : जिससे अपने आत्मा को गुण का लाभ हो—वही सच्ची भक्ति है। जिनकी भक्ति की जाती है, उन गुणीजनों को पहिचानकर, वैसे गुणों का अंश अपने में प्रगट करना, वह सच्ची भक्ति है।

—और वह सच्ची भक्ति कैसी है कि एक गुणीजन की भक्ति करने से उसमें अनंत गुणीजनों की भक्ति एक साथ हो जाती है।—ऐसी गुणभक्ति, वह आत्मगुण के लाभ का कारण है।

सुवर्णधाम में मंगल-दीपावली पर्व

परम स्वभाव की भावना द्वारा आत्मा में चैतन्यदीप प्रज्वलित करो!

[कार्तिक कृष्णा अमावस्या]

आज वीर निर्वाण का 2499 वाँ वर्ष प्रारंभ हुआ... वीर प्रभु ने आज अभूतपूर्व सिद्धपद प्राप्त किया; गौतम गणधर भी आज ही अपूर्व केवलज्ञान प्रगट करके अरिहंत हुए; सुधर्मस्वामी आज ही श्रुतकेवली हुए... इस प्रकार आज मोक्षदीप प्रज्वलित हुए... केवलज्ञानदीप और श्रुतज्ञानदीप प्रज्वलित हुए। ऐसे मंगल-चैतन्यदीपकों की माला प्रज्वलित करने का दिन अर्थात् दीपमालिका पर्व। अहा, आज ढाई हजार वर्ष पश्चात् चैतन्यदीपक का स्मरण करते हुए भी मुमुक्षु को कैसा आनंद होता है! कैसी भावना जागृत होती है! तो फिर जिनके असंख्य प्रदेशों में आनंदमय चैतन्यदीपक प्रकाशित हुए हों, उनके आनंद की क्या बात!

धन्य है अपने इस महावीर शासन को-कि जिसमें आज भी हम सबको ऐसे दिव्य चैतन्यदीपक से प्रकाशित आत्माएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वीरप्रभु के मार्ग में अन्धकार नहीं है, आज भी वह उज्ज्वल मार्ग ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है... और हजारों वर्षों तक प्रकाशमान रहनेवाला है।

'मार्ग' तो था ही... अनादिकाल से चल ही रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। आज स्वामीजी ने हम सबको यह मार्ग दिखलाया है... उन्मार्ग से लौटाकर हमें वीरमार्ग पर चढ़ाया है... इस मार्ग पर जाते हुए आनंद होता है।

आज मंगल-दीपावली के सुप्रभात में ही, मीठे जल से भरे हुए श्रीफल की उपमा देकर स्वामीजी ने पूर्ण आनंद से भरे हुए आत्मा का स्मरण करके

उसकी परम महिमा प्रगट की। महा, पूर्ण आनंद से भरे हुए आत्मा में परभावों की खड़खड़ाहट कहाँ है ? ऐसे पूर्ण आनंद से भरपूर आत्मा, वह स्वयं मंगल है, उसका स्मरण और उसकी भावना करना, वह भी मंगल है।

रंग-बिरंगे दीपकों से जगमगाते हुए जिन-मंदिर में भक्तिपूर्ण वातावरण में निर्वाण कल्याणक संबंधी महा पूजा हुई। भगवान की मोक्षदशा अर्थात् आनंद-प्रमोद दशा। 'मोक्ष' अर्थात् आनंद, रत्नत्रय के फल में महान आनंद-प्रमोद प्राप्त किया, उनकी स्मृति-चिह्नरूप में तीन मोदक (निर्वाण लाडू) जिनमंदिर में चढ़ाये और मोक्ष के प्रति प्रमोद व्यक्त किया। अहो वीरनाथ! हमें मोक्ष का मार्ग बतलाकर आप तो मोक्षपुरी सिधारे, आपका वह मार्ग—आपका वह शासन आज भी जीवंत-जयवंत वर्तता है। आपके द्वारा चतुर्थ काल में बतलाये गये मार्ग पर हम पंचम काल के जीव आ रहे हैं।

प्रवचन में नियमसार की 119वीं गाथा के द्वारा, मोक्ष के कारणरूप भावना बतलाते हुए स्वामीजी ने कहा कि यह आत्मा पूर्ण आनंदस्वभाव से भरपूर, परमपारिणामिकभाव, उसकी भावना, वह मोक्ष का कारण है। इस परम स्वभाव की भावना में निश्चय व्रत-समिति-प्रायश्चित्त आदि समस्त धर्म समा जाते हैं। अहो, ऐसा स्वभाव सर्व जीवों में है, उसके सन्मुख होकर भावना करनेवाला जीव अत्यंत आसन्नभव्य है। ऐसे स्वभाव की भावना के द्वारा भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। हे जीव! तू भी ऐसे स्वभाव की भावना कर, तो तेरी पर्याय अंतरोन्मुख हो और तुझसे चैतन्यदीपकरूप दीपावली प्रगट हो। आत्मस्वभाव की भावना में जो अतीन्द्रिय आनंद का अमृत भरा है, वही दीपावली का अपूर्व पकवान है। यह दीपावली के ऊँचे पकवान परोसे जा रहे हैं।

अहा, जिसे मुक्ति अत्यंत अल्प काल में होनेवाली है, ऐसा अति आसन्न भव्य जीव अपने परमानंदमय सहज स्वभाव की भावना भाता है। ऐसे चैतन्य की भावना के निकट जगत के राजा-महाराजा के वैभव की क्या गिनती ? अरे, एकबार तो आश्चर्य करके, आत्मा को देखने आओ! कि कैसा है आत्मा ? ज्ञानी

जिनकी इतनी प्रशंसा-महिमा करते हैं, वह आत्मा अंतर में कैसा है ? उसे देखने का कौतूहल तो कर ! उसे देखते ही तू निहाल हो जायेगा।

— आज दीपावली की खुशी में ग्रंथाधिराज श्री समयसारजी की नई चतुर्थ आवृत्ति छपवाने का स्वामीजी के आशीर्वादपूर्वक निर्णय हुआ था और उसकी सहायतार्थ 11003) (ग्यारह हजार तीन रुपये) मुमुक्षुओं की ओर से दानस्वरूप दिये गये थे।

ज्ञानी का ज्ञान राग का कर्ता होता है— यह बात अशक्य है

दोपहर में समयसार की 93 वीं गाथा के प्रवचन में, ज्ञान में कर्म का अकर्तापना है—यह बात समझायी। अहो, जीव का चेतनस्वभाव, उसको अनुभवनेवाले ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नहीं होता, इसलिये वह राग को नहीं करता। उसका ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है। ज्ञानरूप परिणमित हुआ वह राग को क्यों करे ? ज्ञानभाव का रागरूप होना अशक्य है। जब स्व-पर की भिन्नता जाने, ज्ञान और राग की भिन्नता जाने, तब ऐसी ज्ञानदशा प्रगट हो और वह जीव धर्मी कहा जाये। वह धर्मी जीव ज्ञान का ही कर्ता है और ज्ञान से अन्य रागादि किसी भाव को वह आत्मारूप नहीं करता; उन्हें आत्मा से भिन्न ही जानता है।

—ऐसा ज्ञान, वह कर्म की उत्पत्ति का कारण नहीं है, इसलिये वह मोक्ष का कारण है। ऐसे ज्ञान की क्रिया द्वारा भगवान ने मोक्ष की साधना की है। तू भी मोक्ष के हेतु ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचान।

राग तो दसवें गुणस्थान तक होता है न ?—भले हो, परंतु वह राग, रागरूप है, वह कहीं ज्ञानरूप नहीं है। राग और ज्ञान की भिन्नता का भान तो चौथे गुणस्थान से ही हो जाता है। राग हो, इसलिये वह राग करते-करते ज्ञान होगा— ऐसा किसने कहा ? ज्ञानस्वरूप आत्मा द्वारा रागरूप या जड़रूप परिणमित होना अशक्य है, इसलिये जिसने ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाना, उसके

द्वारा जड़रूप या रागरूप होना अशक्य है; राग का कर्तृत्व वह तो अज्ञानी का कार्य है, ज्ञान में तो वह अशक्य है।—देखो, ऐसा अलौकिक ज्ञान प्रगट करना, वह सच्ची दीपावली है।

राग में ऐसी शक्ति नहीं कि वह ज्ञान में प्रवेश करके ज्ञानरूप हो, और ज्ञान का ऐसा स्वयप है कि वह कभी रागरूप हो, यह बात अशक्य है। ज्ञान और राग के ऐसे विशेष को (अर्थात् अत्यंत भिन्नता को) ज्ञानी ही जानता है।

सच्चा आत्मा ही उसे कहा जाता है, कि जो ज्ञानभावरूप परिणमित हो, ज्ञानभाव में राग का समावेश नहीं होता।

राग के कर्तृत्वरूप होनेवाला भाव, वह तो अज्ञानभाव है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते।

ज्ञानी तो ज्ञानस्वरूप हुआ, वह ज्ञानात्मा किंचित् अज्ञानस्वरूप परिणमित नहीं होता। अर्थात् रागरूप वह किंचित् नहीं होता। उसके सर्व भावों में ज्ञानत्व ही प्रकाशमान है। ऐसे ज्ञान में राग या कर्म बंधन है ही नहीं।

अहा, आत्मा के चैतन्यभाव की क्या बात? इस चैतन्य का तेज बाह्यदृष्टि से नहीं देखा जा सकता। जिसप्रकार मोती के पानी की परख किसान को नहीं होती; उसीप्रकार चैतन्यहीरे की अचिंत्य चमक राग द्वारा नहीं परखी जाती; राग तो पर की ओर का भाव है, उसके द्वारा स्वभाव की परख कैसे होगी? अनंत गुण के कटावों से चैतन्यहीरा जगमगा रहा है—उसमें जिसकी पर्याय अंतर्मुख हुई उसके आत्मा में सदा दीपावली ही है।

ज्ञान को प्रकाशित करता हुआ मंगल सुप्रभात

नूतन वर्ष के मंगलरूप में ज्ञान की प्रसिद्धि करते हुए स्वामीजी ने कहा है कि—जगत में जो-जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, वे ज्ञान को ही प्रसिद्ध कर रहे हैं। क्योंकि ज्ञान में ही वे सब ज्ञात होते हैं। ज्ञान के अस्तित्व बिना कुछ भी जानने में नहीं आता। ज्ञेय कहीं ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, परंतु ज्ञेयों का ज्ञात होना ज्ञान के ही

अस्तित्व में है।—इसप्रकार ज्ञानरूप अपनी अनुभूति करने पर आत्मा अनुभव में आता है। ज्ञान की अनुभूति छोटे-बड़े सभी को होती है, परंतु उसमें 'यह ज्ञान की अनुभूति है, सो मैं हूँ' ऐसी ज्ञान की प्रतीति नहीं करते। जो-जो पदार्थ जानने में आते हैं, उनका ज्ञान, सो मैं हूँ—इसप्रकार ज्ञानरूप स्वयं अपने को जानना-अनुभव करना, वह अपूर्व सुप्रभात मंगल है।

भाई, ज्ञान का अस्तित्व है, वह तू ही है। तेरे ज्ञानरूप अस्तित्व के बिना ज्ञेय ज्ञात किसमें होंगे? ज्ञेय तुझमें नास्तिरूप हैं, तेरा अस्तित्व तो ज्ञानरूप है।—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति द्वारा आत्मा में आनंदमय नूतन वर्ष प्रारंभ करो।

नियमसार गाथा 119 के प्रवचन में स्वामीजी ने कहा है कि—अहो, यह आत्मा परमस्वभाव से परिपूर्ण है, उसके सन्मुख परिणतिरूप जो भावना है, उसमें सामायिक-प्रतिक्रमण-क्षमा-तप आदि धर्मों का समावेश हो जाता है, इसलिये परमस्वभाव की अभेद भावना में समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है; इसलिये आत्मा के उस परमस्वभाव का अवलंबन करनेवाले भावरूप जो ध्यान है, वह सर्वस्व है। सारा जैनशासन उसमें समा जाता है।

अहो, आत्मा के परमस्वभाव की महिमा की क्या बात! उसकी भावना ही नूतनवर्ष की श्रेष्ठ भेंट है। देव-गुरु-शास्त्रों ने भी इस परमस्वभाव की महिमा गायी है, इसलिये इस परमस्वभावी आत्मा को दृष्टि में लेकर उसकी भावना करने से उसमें देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा भी आ गई।

ऐसे चैतन्यस्वभाव की जिसने भावना की, उसने अपने आत्मा में मोक्ष का मंगल-कलश स्थापित किया।

आत्मा त्रिकाल आनंदमूर्ति परम कलासहित है; ऐसे आत्मा की भावना, वह भी परम कला है, वह आनंदसहित है। आत्मा चैतन्यप्रकाश का पुंज, उसकी भावना द्वारा पर्याय में से अनादिकालीन अज्ञान-अंधकार का नाश हुआ और आनंदमय अनंत कलासहित सुप्रभात उदित हुआ। ऐसे आत्मा को ध्याने से

अल्पकाल में संसार का अंत होकर जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

[गुजराती आत्मधर्म, अंक 349, पृष्ठ 2 से 6 तक का हिन्दी अनुवाद]

☆★☆★☆★☆★☆★

चैतन्य की साधना का उत्साह

जिसे चैतन्य को साधने का उत्साह है, उसे चैतन्य के साधक धर्मात्मा को देखकर उत्साह और उमंग आती है कि अहा! यह धर्मात्मा कैसे चैतन्य को साध रहे हैं! और मैं भी चैतन्य को साधूँ—इसप्रकार उसे आराधना का उत्साह जागृत होता है।

आत्म-शांति

भाई, तेरा आत्मस्वभाव ऐसा है कि उसके सन्मुख परिणमन करते ही आनंदसहित निर्मल सम्यक्तवादि का उत्पाद होता है। जगत के कोलाहल से दूर होकर, तू अपने स्वभाव को लक्ष में ले। जगत क्या करता है, क्या बोलता है—उसके साथ तेरे तत्त्व का कोई संबंध नहीं है, क्योंकि तेरा उत्पाद तुझमें से आता है, अन्य में से नहीं आता।

स्वभाव की प्रतीति होने पर भी किंचित् राग-द्वेष हो तो वह कहीं ज्ञानभाव का कार्य नहीं है—इसप्रकार धर्मी को भिन्नता का भान है, इसलिये उस समय वह अपने ज्ञानभाव को नहीं चूकता। —आत्मवैभव से

सम्यग्दर्शन के आठ अंग की कथा

[अंक नं 327 से आगे]

सम्यक्तयुत आचार ही संसार में एक सार है,
जिनने किया आचरण उनको नमन सौ-सौ बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिये,
अरु पापियों के हाल सुनकर पाप तजना चाहिये॥

(8) प्रभावना-अंग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा

[पहली नि:शंक अंग में प्रसिद्ध अंजनचोर की कथा; दूसरी नि:कांक्ष अंग में प्रसिद्ध सती अनंतमती की कथा; तीसरी निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा; चौथी अमूढदृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवतीरानी की कथा; पाँचवीं उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त सेठ की कथा; छठवीं स्थिति-करण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण मुनि की कथा और सातवीं वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा आपने पढ़ी; अब अंतिम कथा आप यहाँ पढ़ेंगे।]

अहिछत्रपुर में सोमदत्त नाम के मंत्री थे; उनकी सगर्भा पत्नी को आम खाने की इच्छा हुई! वह मौसम आम पकने का नहीं था, तथापि मंत्री ने वन में जाकर खोज की तो सारे वन में एक आम वृक्ष पर सुंदर आम झूल रहे थे। उन्हें आश्चर्य हुआ! उस वृक्ष के नीचे एक जैन मुनि विराजमान थे, उनके प्रभाव से वृक्ष पर आम पक गये थे। मंत्री ने भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुनिराज से धर्म का स्वरूप सुना तो अत्यंत वैराग्यवश उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गये और पर्वत पर जाकर आत्मध्यान करने लगे।

सोमदत्त मंत्री की स्त्री यक्षदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र को लेकर मुनिराज के

पास गई, लेकिन संसार से विरक्त मुनि ने उसके सन्मुख दृष्टि न की, अत: क्रोधपूर्वक वह स्त्री बोली—यदि साधु होना था तो तुमने विवाह क्यों किया ? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा ? अब इस पुत्र का पालन-पोषण कौन करेगा ? ऐसा कहकर मुनिराज के चरणों में बालक को रखकर चली गई। इसी बालक का नाम वज्रकुमार है। उसके हाथ में वज्र का चिह्न था।

अरे ! वन में बालक की रक्षा कौन करेगा ?

ठीक उसी समय दिवाकर नाम का विद्याधर राजा तीर्थयात्रा करने को निकला, वह मुनि को वंदन करने आया और अत्यंत तेजस्वी उस वज्रकुमार-बालक को देखकर उठा लिया। ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होने से रानी भी प्रसन्न हुई। वे उस बालक को अपने साथ ले गये और पुत्र की तरह उसका पालन-पोषण करने लगे। भाग्यवान जीवों को कोई न कोई योग प्राप्त हो ही जाता है।

वज्रकुमार युवा होने पर पवनवेगा नाम की विद्याधरी के साथ उसका विवाह हुआ और उसने बहुत से राजाओं को जीत लिया।

कुछ समय बाद दिवाकर राजा की रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। अपने ही पुत्र को राज्य मिले, इस लालसा में वह वज्रकुमार से द्वेष करने लगी। एकबार वह गुस्से में बोली कि—अरे ! यह किसका पुत्र है ! यहाँ आकर मुझे व्यर्थ हैरान करता है !

यह सुनते ही वज्रकुमार का मन उदास हो गया। उसे विश्वास हो गया कि मेरे सच्चे माता-पिता दूसरे हैं। अत: उसने विद्याधर से वास्तविक स्थिति जान ली। उसे ज्ञात हुआ कि मेरे माता-पिता दीक्षा ग्रहण करके मुनि हो गये हैं। वह शीघ्र ही विमान में बैठकर मुनि के पास गया।

ध्यानस्थ सोमदत्त मुनिराज को देखकर वह अत्यंत प्रसन्न हुआ, उसका चित्त शांत हुआ, विचित्र संसार के प्रति उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और पिता के पास से मानों धर्म का उत्तराधिकार माँगता हो !—ऐसी परम भक्ति से वंदन करके कहा : हे पूज्य देव ! मुझे भी साधु दीक्षा दो ! इस संसार में मुझे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सार नहीं लगता।

दिवाकर देव ने उसे दीक्षा न लेने के लिये बहुत समझाया, परंतु वज्रकुमार ने दीक्षा ही ग्रहण की; वे साधु होकर आत्मा का ज्ञान-ध्यान करने लगे और देश-देशांतर में घूमकर

धर्मप्रभावना करने लगे। एकबार उनके प्रताप से मथुरानगरी में धर्मप्रभावना की एक महान घटना हुई। क्या घटना हुई ? उसे देखने के लिये अपनी कथा को मथुरानगरी में ले चलते हैं।

मथुरानगरी में एक गरीब अनाथ बालिका जूठन खाकर पेट भरती थी, उसे देखकर एक अवधिज्ञानी मुनि बोले कि—देखो, कर्म की विचित्रता ! यही लड़की कुछ समय बाद राजा की पटरानी होगी।

मुनि की यह बात सुनकर एक बौद्धभिक्षु उसे अपने मठ में ले गया और उसका पालन-पोषण करने लगा। उसका नाम बुद्धदासी रखा और उसे बौद्धधर्म के संस्कार दिये।

जब वह युवती हुई, तब उसका अत्यंत सुंदर रूप देखकर राजा मोहित हो गया और उसके साथ विवाह करने की माँग की। परंतु उस राजा के उर्मिला नाम की एक रानी थी जो जैनधर्म का पालन करती थी, इसलिये मठ के लोगों ने कहा कि यदि राजा स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार करें और बौद्धदासी को पटरानी बनायें तो हम विवाह कर देते हैं। कामांध राजा ने तो बिना विचारे यह बात स्वीकार कर ली। धिक्कार है विषयों को ! विषयांध जीव सत्यधर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है।

अब बुद्धदासी राजा की पटरानी हुई। अत: वह बौद्धधर्म का खूब प्रचार करने लगी। एकबार उर्मिला रानी जो कि जैनधर्म की परम भक्त थी, उसने प्रति वर्ष की भाँति अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान की विशाल अद्भुत रथयात्रा निकालने की तैयारी की; परंतु बौद्धदासी से यह सहन न हुआ। उसने राजा से कहकर वह रथयात्रा रुकवा दी और बौद्ध की रथयात्रा पहले निकालने को कहा। अरे ! जैनधर्म की परम महिमा की उसे कहाँ खबर थी ? गाय के और आक के दूध का अंतर मदांध पुरुष क्या जानेगा ?

जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा में विघ्न होने से उर्मिलारानी को बहुत दु:ख हुआ और जब तक रथयात्रा नहीं निकलेगी, तब तक के लिये अनशनव्रत ग्रहण करके वह वन में सोमदत्त और वज्रकुमार मुनि की शरण में पहुँची और प्रार्थना करने लगी कि हे प्रभो ! जैनधर्म के ऊपर आये हुए संकट को आप दूर करें।

रानी की बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अंतर में धर्मप्रभावना का भाव जागृत हुआ। इसी समय दिवाकर राजा आदि विद्याधर वहाँ मुनि को वंदन करने आये; वज्रकुमार मुनि

ने कहा—राजन्! तुम जैनधर्म के परम भक्त हो, और मथुरा नगरी में जैनधर्म पर संकट आया है, उसे दूर करने में तुम समर्थ हो। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है, वे तन से-मन से-धन से-शास्त्र से-ज्ञान से-विद्या से सर्वप्रकार से जैनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं के कष्टों को दूर करते हैं।

दिवाकर राजा धर्मप्रेमी तो थे ही, उस पर मुनिराज के उपदेश से उन्हें प्रेरणा मिली, शीघ्र ही मुनिराज को नमस्कार करके उर्मिलारानी के साथ समस्त विद्याधर मथुरा आये और धामधूमपूर्वक जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकाली। हजारों विद्याधरों के प्रभाव को देखकर राजा और बौद्धदासी भी आश्चर्यचकित हुए और जैनधर्म से प्रभावित होकर आनंदपूर्वक उन्होंने जैनधर्म अंगीकार करके अपना कल्याण किया। तथा सत्यधर्म प्राप्त कराने के लिये उर्मिलारानी का उपकार माना। उर्मिलारानी ने उन्हें जैनधर्म के वीतरागी देव-गुरु की अपार महिमा समझायी। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान प्रभावना देखकर आनंदित हुए और बहुमानपूर्वक जैनधर्म की उपासना करने लगे।—इसप्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्मिलारानी द्वारा जैनधर्म की महान प्रभावना हुई।

—००—

[वज्रकुमार मुनि की कथा हमें जैनधर्म की सेवा करना और अत्यंत महिमापूर्वक उसकी प्रभावना करना सिखाती है। तन-मन-धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से सर्वप्रकार से धर्म के ऊपर आया संकट दूर करके धर्म की महिमा और उसकी वृद्धि करना चाहिये। वर्तमान में तो मुख्यतः ज्ञान-साहित्य द्वारा धर्म-प्रभावना करनायोग्य है।]

***

उपसंहार

समन्तभद्रस्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन करके उन-उन अंगों में प्रसिद्ध महात्माओं के नाम दिये हैं; तदनुसार आठ अंगों की आठ कथाएँ आप आत्मधर्म में पढ़ चुके हैं।

अंजन निरंजन हुए जिनने नहीं शंका चित धरी॥1॥

बाई अनंतमती सती ने विषय आशा परिहरी ॥2॥
सज्जन उदायन नृपति वरने ग्लानि जीती भाव से ॥3॥
सत्-असत् का किया निर्णय रेवती ने चाव से ॥4॥
जिनभक्तजी ने चोर का वह महादूषण ढँक दिया ॥5॥
जय वारिषेण मुनीश मुनि के चपल चित्त को थिर किया ॥6॥
सु विष्णुकुमार कृपालु ने मुनिसंघ की रक्षा करी ॥7॥
जय वज्रमुनि जयवंत तुमसे धर्म महिमा विस्तरी ॥8॥

सम्यक्त्व की महिमा बतानेवाली और आठ अंगों के पालने में उत्साह प्रेरित करनेवाली ऐसी आठ कथाएँ पढ़कर अनेक जिज्ञासुओं ने प्रसन्नता व्यक्त की है। यहाँ उपसंहाररूप आठ अंग की कथाओं में से जो उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है, उसका पुनरावर्तन कर लें:—

(1) नि:शंक-अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कथा जैनधर्म की नि:शंक श्रद्धा करके उसकी आराधना का पाठ हमें पढ़ाती है।

(2) नि:कांक्ष-अंग में प्रसिद्ध अनंतमती की कथा सांसारिक सुख का वांछा छोड़कर हमें आत्मिक-सुख की साधना में तत्पर होने को प्रेरित करती है।

(3) निर्विचिकित्सा-अंग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा हमें ऐसा बोध देती है कि धर्मात्मा के शरीरादि को अशुचिमय देखकर भी उनके धर्म के प्रति ग्लानि न करें तथा उनके सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों का बहुमान करें।

(4) अमूढ़दृष्टि-अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा हमसे ऐसा कहती है कि वीतराग परमात्मा अरिहंतदेव का सच्चा स्वरूप पहिचानो और उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव को भले ही वे साखात् ब्रह्मा-विष्णु-शंकर समान दिखते हों, तथापि नमन न करो, जिनवचन से विरुद्ध किसी बात को न मानो। भले ही सारा जगत अन्यथा माने और तुम अकेले रह जाओ, तथापि जिनधर्म की श्रद्धा मत छोड़ो।

(5) उपगूहन-अंग में प्रसिद्ध जिनभक्त सेठ की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि साधर्मी के किसी दोष को मुख्य करके धर्म की निंदा हो, वैसा नहीं करना चाहिये, परंतु

प्रेमपूर्वक समझाकर उसे दोष से छुड़ाना चाहिये; और धर्मात्मा के गुणों को मुख्य करके उसकी प्रशंसा द्वारा धर्म की वृद्धि हो, वैसा करना चाहिये।

(6) स्थितिकरण में प्रसिद्ध वारिषेण मुनिराज की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि—कोई साधर्मी-धर्मात्मा कदाचित् शिथिल होकर धर्ममार्ग से डिगता हो तो उसका तिरस्कार न करके प्रेमपूर्वक उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिये। सर्वप्रकार से उसकी सहायता करनी चाहिये। धर्म का उल्लास जागृत करके, जैनधर्म की महिमा समझाकर या वैराग्य द्वारा उसे धर्म में स्थिर करना चाहिये तथा स्वयं अपने आत्मा को भी धर्म में विशेष-विशेष स्थिर करना चाहिये। कैसी भी प्रतिकूलता आये परंतु धर्म से किंचित् भी नहीं डिगना।

(7) वात्सल्य-अंग में प्रसिद्ध श्री विष्णुकुमार मुनि की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि धर्मात्मा साधर्मीजनों को अपना मानकर उनके प्रति अत्यंत प्रीतिरूप वात्सल्य रखना चाहिये, उनके प्रति आदर-सन्मानपूर्वक हर प्रकार से उनकी सहायता करना चाहिये, उन पर कोई संकट आया हो तो अपनी शक्ति अनुसार उसका निवारण करना चाहिये।—इसप्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यंत स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। जिन्हें धर्म का प्रेम हो, उन्हें धर्मात्मा के प्रति प्रेम होता ही है; धर्मात्मा पर आया संकट वे देख नहीं सकते।

(8) प्रभावना-अंग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा हमें जैनधर्म की सेवा करने की और अत्यंत महिमापूर्वक उसकी प्रभावना करने की शिक्षा देती है। तन-मन-धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से सर्वप्रकार से धर्मसंकट दूर करके धर्म की महिमा प्रगट करना चाहिये और धर्मवृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। वर्तमान में तो ज्ञानसाहित्य द्वारा धर्मप्रभावना करनायोग्य है।

आठ-अंग सहित शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना जयवंत हो!

[गुजराती आत्मधर्म, अंक 336, पृष्ठ 23 से 28 तक का हिन्दी अनुवाद]

अपना परमात्मतत्त्व हमें सतत सुलभ है

[कार्तिक कृष्णा 4 के प्रवचन से]

स्वानुभव-प्रसिद्ध स्वतत्त्व में लीन धर्मात्मा संसार के प्रपंच से पराङ्मुख हैं और आनन्दमय मोक्ष के सन्मुख हैं।

सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरे अंतर में मेरा सहज तत्त्व आनंदसहित जयवंत वर्तता है। अपना यह तत्त्व मुझे निरंतर सुलभ है। अपना शांत-निराकुल-चैतन्यप्रकाशी तत्त्व मेरी अनुभूति में आ गया है, अतः वह विद्यमान है, जयवंत है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की अनुभूति! अनुभूति में अनंत गुण निर्मलरूप से विकसित हुए हैं, चैतन्य का पूर्ण नंदनवन खिल उठा है। इस नंदनवन में जिसने प्रवेश किया, उसे अब संसार का ताप कैसा? अहा, शांति की शीतलता का पिंड, शांति का हिमालय वह सम्यग्दृष्टि का घर है, शांति के घर में धर्मी का प्रवेश हो गया है... वहाँ अब उसे स्वतत्त्व दूर नहीं रहा, अनुभूति में आ गया है-प्रकाशित हुआ है, इसलिये वह दुर्लभ नहीं है। अपना तत्त्व अपने को दुर्लभ या अप्रकाशित कैसे होगा? अनजान था, तब दुर्लभ लगता था, परंतु अंतर्मुख होकर अब जाना कि मैं तो वह परमतत्त्व हूँ—वहाँ वह अपने को सुलभ और प्रसिद्ध हुआ है। शास्त्रों में जिसकी अगाध महिमा गायी है, वह मैं हूँ—ऐसा जानने पर अपना तत्त्व अपने को सुलभ हो गया है—पर्याय में प्रकाशित हो गया है। अहा, मेरा यह सरस अचिंत्य तत्त्व!' इसप्रकार धर्मी निरंतर निजभावना भाता है... अचिंत्य महिमा लाकर उसमें बारंबार उपयोग को लगाता है।

मेरा सहज तत्त्व, वाणी और मन के मार्ग से अत्यंत दूर है; उसे स्वीकार करने में वाणी और मन का अवलंबन किंचित्मात्र नहीं है। अहा, ऐसा अनुभूतिगम्य मेरा तत्त्व.... कि जो स्वानुभूति द्वारा मुझसे प्रसिद्ध हुआ है, उस तत्त्व को मन के विकल्पों के साथ भी संबंध नहीं है, वहाँ बाह्य में दूसरे की क्या बात? बाह्य जगत के साथ मेरे अंतरतत्त्व का कोई संबंध नहीं है।

अनंत आनंद और शांति का धाम ऐसा जो स्वघर, उसी में मेरे सहज तत्त्व का निवास है।

अहा, ऐसा तत्त्व निरंतर जयवंतरूप से अपने में देखा, वहाँ धर्मी को जगत के साथ क्या प्रयोजन रहा? अहा, हमें अपने भगवान का मिलाप हुआ है–इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को अपना निर्मल परमतत्त्व निरंतर अपने में वर्तता है, श्रद्धा–ज्ञान में निरंतर प्रगट वर्तमान है। स्वानुभव–प्रगट ऐसे स्वतत्त्व में झुके हुए धर्मात्मा जगत के बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख है.... और आनंदमय मोक्ष के सन्मुख है।

[गुजराती आत्मधर्म, अंक 349, पृष्ठ 7–8का हिन्दी अनुवाद]

अनुभव का अवसर आ चुका है

पंडित टोडरमलजी ने लिखा है कि—'अध्यात्मरस के रसिक जीव अति अल्प हैं; धन्य है उन्हें जो स्वानुभव की बात भी करते हैं।' अहा! स्वानुभव की चर्चा करे, उसे भी धन्य कहा है, तो जो स्वानुभूतिरूप साक्षात परिणमित हुए हैं, ऐसे संतों का क्या कहना! ऐसे अनुभवी जीवों का साक्षात् सत्संग प्राप्त होना कितने सौभाग्य की बात है!

अहा, अध्यात्मरस की ऐसी बात! आत्मा के परम प्रेम सहित उसकी विचारधारा, उसका निर्णय और उसका अनुभव, यही करनेयोग्य है। एकांत में अर्थात् मन में से अन्य सब चिंताओं का क्लेश छोड़कर प्रसन्नचित्त से उसके लिये अभ्यास करना चाहिये। इस मनुष्यभव में यही करनेयोग्य है, अभी उसका अवसर है।

'अब अवसर आ चुका है....'

विविध समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) परमपूज्य श्री स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल श्री नियमसारजी शास्त्र पर तथा दोपहर को श्री समयसारजी शास्त्र पर स्वामीजी के अध्यात्मरस से ओतप्रोत प्रवचन होते हैं। अष्टाह्निका पर्व अत्यंत उल्लासपूर्वक मनाया गया। विशाल परमागम मंदिर का निर्माण-कार्य तेजी से चल रहा है। बाहर से अनेक यात्री सोनगढ़ आते रहते हैं।

❀ ❀ ❀

करहल (मैनपुरी) श्री पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, दिनांक 28-9-72 को पधारे और आपने सात तत्त्वों की भूल पर विशेष प्रकाश डाला, जिससे यहाँ पर काफी प्रभावना हुई है। इसके बाद सोनगढ़ से श्री पंडित रमेशचंद्रजी दिनांक 2-10-72 को यहाँ पधारे। आप बड़े प्रभावशाली वक्ता हैं। आपके प्रभावपूर्ण धार्मिक प्रवचनों से तथा स्वामीजी के टेप किये गये भावपाहुड़ आदि ग्रंथों पर किये गये विवेचनों से बड़ी धार्मिक जागृति हुई। हमारे यहाँ चल रही रात्रि-पाठशाला के सदस्यों की शंकाओं और अनेक भ्रांतियों का समाधान हुआ और विशेष लाभ प्राप्त किया। सोनगढ़ से चल रहे ऐसे कार्यक्रम बड़े प्रशंसनीय तथा सराहनीय हैं। हम पंडितजी तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ का आभार मानते हुए कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

रमेशचंद्र जैन सिंघई
व्यवस्थापक - श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, करहल

❀ ❀ ❀

मौ (भिंड) में श्री वीतरागविज्ञान शिक्षण-शिविर का अपूर्व आयोजन

ब्रह्मचारी श्री हेमचंदजी के तथा सोनगढ़ के तत्त्वावधान में श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-शिविर का भव्य आयोजन 14-10-72 से दिनांक 26-10-72 तक चला। शिविर-उद्घाटन के समय लश्कर निवासी पंडित श्री धन्नालालजी ने वीतराग-विज्ञानता की उत्कृष्टता बतलाई।

कार्यक्रम में प्रभातफेरी, ध्वजारोहण, विद्वानों का आगमन और सत्कार और नवनिर्मित

स्वाध्याय मंदिर का उद्घाटन सेठ श्री मनीरामजी (फिरोजाबाद) ने किया। आपने अच्छी रकम दी। ब्रह्मचारी श्री हेमराज कन्या पाठशाला का उद्घाटन श्री बेनीराम डालचंदजी (फिरोजाबाद) ने किया। अपने भी ज्ञान-धारा प्रवाहित करनेह हेतु अच्छी रकम दी। पाठशाला के संस्थापक ब्रह्मचारी श्री हेमराजजी ने तथा ब्रह्मचारी पांडेश्री तथा स्थानीय जैन समाज की ओर से ध्रौव्यफण्ड हेतु अच्छी व्यवस्था हो रही है।

शिविर-उद्घाटन समारोह से प्रभावित होकर सेठ माणिकचंदजी आदि ने श्री सीमंधरस्वामी का समवसरण नामक जिनमंदिर-निर्माण हेतु दान दिया तथा सेठ श्री मोतीलालजी ने मानस्तंभ निर्माण हेतु दान दिया। स्थानीय जैन-अजैन समाज के अतिरिक्त भोगाँव, इटावा, फिरोजाबाद, आगरा, ग्वालियर, महगाँव, गोहद, भिंड, जमायत आदि नगरों एवं ग्राम्य लोगों ने काफी मात्रा में समय पर आकर लाभ लिया। तथा सभी मेहमानों को आवास तथा भोजनादि की सुंदर व्यवस्था रखी गई। अंत में बाहर गाँव से पधारे हुये विद्वानों का आभार प्रगट किया गया। उपरोक्त 12 दिन के कार्यक्रम में पंडित श्री चिमनलालजी कामदार, श्री धन्नालालजी श्री नेमीचंदजी पाटनी, श्री प्रो. लालचंदजी ग्वालियर, पंडित श्री मिश्रीलालजी पाटनी, सेठ श्री पद्मचंदजी आगरा आदि 40 विद्वान थे। प्रवचन में दोनों समय करीब 600 संख्या रहती थी। अंतिम समारोह अत्यंत उल्लास एवं अपार भीड़ के साथ निकाला गया था। आसपास के गाँवों से आये हुये सभी लोगों ने सपरिवार भाग लिया। स्थानीय जैन समाज ने अपना व्यापार-धंधा बंद रखकर सभी कार्यक्रमों में तीव्र रुचि सहित भाग लिया तथा बाहर से पधारे हुये साधर्मियों की सेवा की। ऐसी अभूतपूर्व रुचि, उत्साह और अलौकिक कार्यक्रमों को यहाँ के लोगों ने जीवन में पहली बार देखा और सुना। 150 से अधिक परीक्षार्थियों ने अनेक ग्रंथों में परीक्षा दी तथा पुस्कार वितरण हुआ।

प्राचीन कलात्मक एवं जैन-साहित्य सहित आदि सामग्री की प्रदर्शनी का तीन दिन तक अभूतपूर्व अवलोकन करने का अवसर मिला।

यहाँ शिक्षण-शिविर से प्रभावित होकर अमाईन, आरौन (भिंड), वोरसा (मुरैना), मुरार (ग्वालियर), मितरवार (शिवपुरी में) नवीन वीतराग पाठशालायें स्थापित हो रही हैं। जो कार्य सराहनीय है।

शांतिकुमार जैन, मंत्री

प्रांतिज (गुज.) जैन शिक्षण शिविर—यहाँ उ. गुजरात में जैनधर्म शिक्षण शिविर द्वारा धार्मिक चेतना हो रही है, और छोटी-बड़ी उम्र के सभी को जैनसिद्धांत का ज्ञान आवश्यक है—यह बात सभी को समझ में आने लगी है। गत मास प्रांतिज नगर में गुजरात के छठवें शिक्षण-शिविर का आयोजन हुआ था। यहाँ बहुत प्राचीन दिगम्बर जिनमंदिर है। 12 दिन तक प्रात: से रात्रि तक धार्मिक शिक्षण का कार्यक्रम चलता था। एक हजार से अधिक की संख्या में आकर लोगों ने उत्साह से भाग लिया। फतेपुर निवासी श्री बाबूभाई का बड़ा भारी उपकार है। प्रांतिज के श्री मीठालालजी ने गुजरात में आध्यात्मिक शिक्षणार्थ पाँच साल के लिये हर साल पाँच हजार रुपये देने की घोषणा की है।

गुजरात की वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं में वीतराग विद्यापीठ जयपुर की परीक्षाएँ जनवरी मास के अंत में होंगी। फार्म मंगाने का पता—

श्री दिगम्बर जिनमंदिर, खाड़िया चार रास्ता, पोस्ट आफिस के सामने, अहमदाबाद-1

❀ ❀ ❀

खनियांधाना (शिवपुरी, म.प्र.)—यहाँ श्री वीर निर्वाणोत्सव महा पर्व पर तारीख 5-11-72 से 12-11-72 तक द्वितीय वीतराग विज्ञान शिक्षण-शिविर का आयोजन स्वाध्याय मंडल द्वारा किया गया, जिसमें वाणीभूषण म.प्र. मुमुक्षु मंडल के प्रचार-मंत्री श्री ज्ञानचंदजी के समागम से 5 दिन तक प्रतिदिन पाँच घंटे का कार्यक्रम रहा। आपके द्वारा छहढाला, जैन सिद्धांत-प्रवेशिका, मोक्षमार्गप्रकाशक, तथा समयसारजी पर श्री राजमलजी कृत कलश टीका के माध्यम से बहुत ही सरल सूक्ष्म विषयों का यथार्थ अर्थ निकाल कर समझाया। आपका यह अपूर्व उत्साह आयोजन पूर्णतया सार्थक हुआ। आसपास के 20 ग्रामों के महिला एवं पुरुष बड़ी संख्या में इस आयोजन में भाग लेने आये। सभी ने उत्तम ढंग से धर्मलाभ लिया।

❀ ❀ ❀

दसलक्षण पर्व पर गतांक में दिये गये समाचारों में से थोड़े शेष रह गये थे, वह समाचार दे रहे हैं:—

अशोकनगर—बम्बई निवासी पंडित श्री हिम्मतलाल छोटालालजी के प्रवचनों से इस पर्वराज में अध्यात्म-गंगा प्रवाहित हुई, जिससे मुमुक्षुओं ने अध्यात्मरस का पान किया।

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि शास्त्रोंरूपी कामधेनु से जो पवित्र अमृतमय दुग्ध-दोहन आचार्य अमृतचन्दजी ने किया, उसे दिगम्बर जैन समाज के घर-घर बाँटनेवाले आध्यात्मिक संत श्री कानजीस्वामी का आशीर्वाद लेकर पंडितजी ने यहाँ पर्व के पवित्र अवसर पर निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, सर्वज्ञस्वभाव के यथार्थ निर्णय सहित क्रमबद्ध पर्याय का निरूपण और पुरुषार्थ आदि जैन-दर्शन के प्रयोजनभूत तत्त्वों तथा उत्तम क्षमादि दस धर्मों का सूक्ष्म-सुगम शैली से विवेचन किया, जिसका समाज ने विशेषरूप से लाभ लिया। मुमुक्षु मंडल द्वारा पंडितजी को सन्मानपत्र दिया गया। अच्छी धर्मप्रभावना हुई।

❀ ❀ ❀

शहपुरा (मिटैनी)—यहाँ पर्यूषणपर्व के अवसर पर श्री पंडित ताराचंदजी सागरवालों के आगमन से समाज को अपूर्व धर्मलाभ हुआ। पंडितजी ने प्रतिदिन तीन बार अपने आध्यात्मिक प्रवचनों एवं तत्त्वचर्चा से लोगों को खूब प्रभावित किया। लोग अब प्रतिदिन धर्मलाभ लेने के लिये मुमुक्षु मंडल में आने लगे हैं। —डॉ. रतनचन्द जैन

❀ ❀ ❀

श्री ब्रह्मचारी पंडित दीपचंदजी द्वारा महाराष्ट्र में धर्मप्रचार

ब्रह्मचारीजी दिनांक 9-11-72 के पत्र में लिखते हैं कि—मैं यहाँ दिनांक 6-11-72 को पहुँचा। बीड, गेवराई, उस्मानाबाद में तथा वैराग और वार्शी में कार्यक्रम हुए। उस्मानाबाद में पुरुषों तथा महिलाओं के अलग-अलग स्वाध्याय मंडलों की स्थापना हुई। जिनके अध्यक्ष श्री सुभाषचंद्र दुरूगकर वकील को बनाया गया, तथा वाचक श्री हीरालाल बोपलकमर हुए। बीड में भी स्वाध्याय मंडल और पाठशाला की स्थापना हुई है। स्वाध्याय मंडल के अध्यक्ष श्री महाजन एस.डी. तथा वाचक श्री नागांवकर हुए हैं। कोल्हापुर में शिक्षण-शिविर की तैयारियाँ चल रही हैं।

पश्चात् दूसरे तारीख 18-11-72 के पत्र में जालना से लिखते हैं कि—आज जालना आकर यहाँ श्री कान्तीलालजी पारिख तथा श्री चाँदमलजी समाज के प्रमुख कार्यकर्ताओं से मिला और कार्तिक वदी में कार्यक्रम रखने का निर्णय हुआ। अभी तक अकोला, मालेगाँव (जहाँगीर), वाशीम, फालेगाँव, डोनगाँव, पुसेगाँव, मालाकापुर, बुलढाणा, चिखली,

देवलगाँव (राजा) तथा जालना आदि बारह-तेरह गाँवों को भेट दिया हुआ हूँ और कुछ स्थानों पर कार्यक्रम हो भी चुके हैं। कुछ नये स्थानों पर दो-दो बार भी जाना पड़ा। अभी देवलगाँव (राजा) को सात-आठ दिन का कार्यक्रम देने के लिये सोलापुर के मार्ग से कोल्हापुर होकर पहुँचूँगा।

—ब्रह्मचारी दीपचंद जैन

❀ ❀ ❀

आवश्यक सूचना

श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड जयपुर के निर्धारित पाठ्यक्रम में बालबोध पाठमाला भाग 2-3 तथा वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-1 के नवीन संस्करणों के कुछ पाठों में परिवर्तन किया गया है। शीतकालीन परीक्षा 1973 की परीक्षा के प्रश्न-पत्र नवीन संस्करणों पर आधारित रहेंगे, अत: संबंधित सभी संस्थाओं के केन्द्राध्यक्ष व अध्यापक बंधु ध्यान दें एवं बालकों को नवीन संस्करण की पुस्तकें ही पढ़ाई जायें।

परीक्षा-तिथि निश्चित—श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षबोर्ड जयपुर की शीतकालीन 1973 की परीक्षाएँ 2, 3, तथा 5 फरवरी 1973 को होंगी, विस्तृत कार्यक्रम शीघ्र प्रकाशित होगा, संबंधित सभी संस्थाएँ नोट कर लें। जिन संस्थाओं ने फार्म भरकर अभी तक नहीं भेजे हैं, वे 20 नवम्बर तक भेज दें। प्रति छात्र 10 पैसा विलंब शुल्क सहित 30 नवम्बर तक फार्म भेजे जा सकते हैं।

मंत्री—परीक्षाबोर्ड

❀ ❀ ❀

कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में धार्मिक शिक्षण-शिविर

दिनांक 12-11-72 से 20-11-72 तक कोल्हापुर में शिविर का आयोजन किया गया था। स्थानीय जैन समाज तथा श्री भट्टारकजी की संमतिपूर्वक तथा श्री विजयालक्ष्मी बहिन-संचालिका श्री दिगम्बर जैन श्राविकाश्रम आदि के सहयोग द्वारा शिविर सानंद संपन्न हुआ। बाहर से अनेक विद्वान वक्ताओं एवं शिक्षकों को आमंत्रित किया गया था। विशेष समाचार आगमी अंक में दिये जायेंगे।

❀ ❀ ❀

—: नये प्रकाशन :—

सम्यग्दर्शन (प्रथम भाग) (चौथी आवृत्ति) जिसमें पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से लिये गये छोटे-छोटे लेखों द्वारा सम्यग्दर्शन का सरल मार्ग बतलाया गया है।

लेखक:— श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद-मगनलाल जैन

पृष्ठ संख्या (डिमाई साइज में) 272, मूल्य 2.00

अनुभवप्रकाश (श्री पंडित दीपचंदजी कासलीवाल कृत) ढूँढारी भाषा में;

पृष्ठ संख्या 100, मूल्य 0.65 पैसा

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका सहित) जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित अहिंसा का स्वरूप एवं मोक्ष का मार्ग बतलाया है, जल्दी तैयार हो रहा है।

बड़ी साइज में पृष्ठ संख्या 200, मूल्य 2.50

प्राप्तिस्थान—

(1) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(2) श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)

राग के एक विकल्प को मोक्ष का कारण माने यह कोई छोटी भूल नहीं है, यह तो मोक्षमार्ग की बड़ी चोरी है। जैसे राजा के अंत:पुर में प्रवेश करके चोरी करे वह राजा का बड़ा चोर है; उसीप्रकार सर्वज्ञदेव के वीतरागमार्गरूपी दरबार का अनादर करके जो जीव राग से धर्म मानता है, वह चैतन्यदरबार का चोर है। उस मिथ्यात्वरूप चोरी का फल अनंत संसार का दु:ख है। उसके विपरीत चैतन्यतत्त्व को राग से भिन्न अनुभव में लेने पर जो सम्यग्दर्शन होता है, वह महा मोक्षसुख का दाता है।

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा

(सवैया इकतीसा)

जिन्ह के हिये मैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।
जिन्ह की सुदिष्टि मैं न परचै विषमता सौं,
समता सौं प्रीति ममता सौं लष्ट पुष्ट है॥
जिन्ह के कटाक्ष मैं सहज मोखपंथ सधै,
मन कौ निरोध जाके तन कौ न कष्ट है।
तिन्ह के करम की कलोलै यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है॥

अर्थ -जिनके हृदय में अनुभव का सत्य-सूर्य प्रकाशित हुआ है और सुबुद्धिरूपी किरणें फैलकर मिथ्यात्व का अंधकार नष्ट करती हैं; जिनके सच्चे श्रद्धान में राग-द्वेष से नाता नहीं है, समता से जिनका प्रेम और ममता से द्रोह है, जिनकी चितवन मात्र से मोक्षमार्ग सधता है और जो कायक्लेश आदि के बिना मन आदि योगों का निग्रह करते हैं, उन सम्यग्ज्ञानी जीवों के विषय-भोग भी समाधि हैं, चलना-फिरना योग वा आसन हैं और बोलना-चालना ही मौनव्रत है।

—श्री पंडित बनारसीदासजी

मोक्ष का ढिंढ़ोरा

अहा, ज्ञानी तो गुप्तरूप से अंतर में अपनी अचिंत्य चैतन्य-निधि का उपभोग करते हैं... वे बाह्य में ढिंढ़ोरा पीटने नहीं जाते। उसीप्रकार हे मुमुक्षु... हे जिज्ञासु! ज्ञानी के निकट अपनी अपार चैतन्य-निधि की महिमा सुनकर तू अंतर में प्रवेश करना... बाह्य में ढिंढ़ोरा पीटने मत जाना... परंतु अंतर में प्रवेश करके अपनी पर्याय में अपने चैतन्यप्रभु को प्रसिद्ध करना... धर्म का ढिंढ़ोरा बाह्य में नहीं पीटा जाता, उसका समावेश तो अंतर में होता है। परिणति जहाँ अंतर्मुख हुई, वहाँ आत्मा में मोक्ष का डंका बज उठा... स्वानुभूति में ज्ञानी के मोक्ष का ढिंढ़ोरा पिट गया है। वह ढिंढ़ोरा अंतर में समाता है। धर्मात्मा के निकट चैतन्य-निधान प्राप्त करने पर मुमुक्षु को उसका ढिंढ़ोरा पीटने की इच्छा नहीं होती, उसे तो परम गंभीरतापूर्वक अंतर में 'उतरकर' स्वकार्य सिद्ध कर लेने का उत्साह जागृत होता है।

उस जिज्ञासु जीव को होवे सद्गुरु-बोध।
तो पाये सम्यक्त्व वह वर्ते अंतरशोध॥

—इसमें श्रीमद् राजचंद्रजी ने जिज्ञासु को बाह्य में ढिंढ़ोरा पीटने को नहीं कहा, परंतु अंतरशोध में वर्तने को कहा है।

श्री कुन्दकुन्दप्रभु ने भी इसी विधि से सहज तत्त्व की आराधना करने को कहा है—

'निधि पामी ने जन कोई, निज वतने रही फल भोगवे।
त्यम ज्ञानी परजनसंग छोड़ी, ज्ञाननिधि ने भोगवे॥'

लौकिक संग को ध्यान में विघ्न का कारण मानकर धर्मी छोड़ते हैं। उसीप्रकार हे मित्र! तू भी इसीप्रकार सहज तत्त्व की आराधना करके अपने अंतर में मोक्ष का ढिंढ़ोरा पीट!

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)